कुशवाहा कान्त

*

प्रस्तुत पुस्तक का नामकरण 'कुशवाहा कान्त—जीवन और साहित्य' हुआ था। हर पृष्ठ पर यही नाम छपा भी है। परन्तु बाद में पता चला, इसी नाम की एक और पुस्तक प्रकाशनाधीन है। आप भ्रम में न पड़ें इसलिए विवश होकर, नाम परिवर्तित कर, 'कुशवाहा कान्त' करना पड़ा।

*

क ला य न

का प्रथम पुष्प

*

कुशवाहा 'कान्त'

[मेरी दृष्टि में]

केशर

अधिकृत विक्रेता

१—चौधरी एण्ड सन्स, वाराणसी
२—रूपसी प्रकाशन, इलाहाबाद
३—सुभाष पुस्तक मन्दिर, वाराणसी

प्रकाशक
क ला य न
(स्मृति-मन्दिर)
बी० ९।१, फीलखाना, वाराणसी

*

प्रथम संस्करण अप्रैल '५९
मूल्य ६)

*

मुद्रण
राष्ट्रभाषा मुद्रणालय,
लहरतारा, वाराणसी

*

कवर मुद्रक
खंडेलवाल प्रेस,
मानमंदिर, वाराणसी

*

आवरण-सज्जा
मधुर

*

ब्लाक-निर्माता
आवरण—
जगदीश ब्लाक वर्क्स,
बाँस फाटक, वाराणसी।
अन्य—
बनारस ब्लाक वर्क्स,
वाराणसी।

भैया 'कान्त' के मान्य गुरु
श्रद्धेय पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' को सादर

पूर्विका

'कुशवाहा कान्त—जीवन और साहित्य' एक औपन्यासिक संस्मरण है। मैंने इसे छपाई के क्रम से पढ़ा है। बराबर और आगे पढ़ने की उत्सुकता बनी रही। इस संस्मरण या उपन्यास की विशेषता यह है कि इसमें लेखक ने अपने अनुभव की बातों को ही समाविष्ट किया है। सुनी-सुनाई बातों के संकलन का मोह इसमें नहीं है। लेखक कान्त का चरित्रांकन भावुकता की लेखनी से करता है। स्पष्ट है, भावुकता महिमा की ओर अधिक झुकती है। कान्त इसमें महान् हैं, उनके व्यक्तित्व में महत्तत्व हैं, वे महाप्राण हैं; यदि आप इन निष्कर्षों से असहमत हों तो भी यह रचना आपको आकृष्ट करेगी।

इसमें कान्त का जीवन वहीं से शुरू किया गया है जहाँ लेखक से उनका परिचय होता है। लेखक ने कान्त के पूर्व जीवन के अध्ययन आदि विषयों को नहीं ग्रहण किया। इससे उसका कार्य एक ओर सरल हुआ दूसरी ओर उत्तरदायित्व बढ़ गया। किसी भी सुपरिचित व्यक्ति के जीवन में ऐसी अनेक बातें रहा करती हैं जिनका प्रकाशन बड़ा कठिन होता है। लेखक के सामने कान्त के जीवन के विषय में भी ऐसी ही कठिनाइयाँ आई हैं। ऐसे समय उसने संकेतप्रधान शैली से काम चलाया है। सावधान पाठक ऐसे स्थलों को स्वयं पहचान लेंगे। लेखक ने कहीं-कहीं घटनाओं, परिस्थितियों तथा व्यक्तियों की निगूढ़ आलोचना भी की है, लेकिन यह आलोचना इतनी संयत है कि एक दो वाक्य आकर चले जाते हैं। पाठक जरा भी असावधान हो तो पकड़ नहीं सकता। यह लेखक का विशिष्ट कौशल है।

कान्त से सम्बद्ध व्यक्तियों के चित्र इसमें काफी उभरकर आये हैं। उसमें सबसे अधिक स्पष्टता लेखक के जीवन के विषय में ही है। लेखक

अपने भावी जीवन की तैयारी करने में किन-किन कठिनाइयों से गुज़र रहा था, इसका चित्रण उसने अच्छी तरह किया है। इस किताब के पाठकों को यह एक प्रासंगिक लाभ होगा, जो किसी अंश में कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इसके अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों के चित्रण में लेखक ने संकोचवश कहीं तो शब्दों का मितव्यय किया है और कहीं निस्संकोच संतुलित चित्रण किया है। मुझे लगता है जहाँ जे० पी० और मधुर के चरित्रांकन में लेखक ने पहली शैली से काम लिया है, वहाँ अशेष और आवारा के चित्रों में वह स्फुट और उन्मुक्त हो उठा है। इस कारण उसके ये दोनों चरित्र जहाँ तक कान्त से सम्बन्ध है, लेखक की दृष्टि में अधिक उभरकर आते हैं। अन्य चरित्र वस्तुनिर्देश का ही कार्य करते हैं।

इस पुस्तक में कान्त का पूरा जीवन नहीं और उनके साहित्य पर विवेचन भी नहीं। तो भी यह नाम कान्त के जीवन के अन्तिम कुछ वर्षों का प्रतिनिधित्व करता है, जिसमें उनकी जीवनी के साथ उनकी रचनाओं का निर्देशन है। लगता है कि लेखक कान्त के साहित्य पर कुछ आलोचनात्मक विचार भी देने की इच्छा रखता था, जो किसी कारण पूरी नहीं कर सका। पुस्तक जैसी और जिस रूप में है, इसका अधिक संगत नाम होता 'कुशवाहा कान्त—मेरी दृष्टि में' लेकिन पुस्तक के गुणों पर नज़र डालते हुए मेरा कहना है, चीज़ देखिए, नाम में क्या रखा है?

कुशवाहा कान्त से मेरा भी थोड़ा परिचय था। कभी कभी अशेष से मिलने चिनगारी कार्यालय चला जाया करता था। मेरे लक्ष्य अशेष होते थे, कान्त से तो यों ही बातें हो जाया करती थीं। हमारी बातों का सम्बन्ध सभी विषयों से रहता था। कान्त भावुक तो थे ही, विनोदपूर्ण स्वभाव के भी थे। हास-परिहास भी वे करते थे। इस किताब में उनके विनोदी स्वभाव का पूरा परिचय नहीं दिया गया। यह उनके व्यक्तित्व का वह पहलू है जिससे वे दूसरों को सहज ही आकृष्ट कर लेते थे। स्वाभिमान उनमें कम न था लेकिन वे दूसरों का सम्मान करना जानते थे। मैंने कभी किसी लेखक के प्रति उनमें अवज्ञा या उपेक्षा नहीं देखी। अपने साहित्य

के प्रति दूसरों के विचारों की उपेक्षा वे जरूर करते थे। तो भी वे अपनी कृतियों पर सबके विचार जानना चाहते थे। अपनी कुछ पुस्तकें उन्होंने मुझे इसलिए दीं कि मैं अपने विचार लिखित या मौखिक रूप में उन्हें दूं। मैंने उनकी उन कृतियों को पढ़कर जो बातें की थीं वे काफी कठोर थीं। लेकिन मैंने देखा कि वे उन कड़वी बातों को भी झेल गये।

मैंने कान्त-साहित्य अधिक नहीं पढ़ा है। फिर भी जितना पढ़ा है, उसके आधार पर कह सकता हूँ कि उनमें अश्लीलता उतनी नहीं है, जितनी बताई जाती है। उनके उपन्यास कथासंघटन की दृष्टि से बहुत अच्छे बन पड़े हैं। और अनेक दोषों के होते हुए भी उनकी रचनाओं में कथा-तत्त्व का आकर्षण सर्वोपरि रहता है। उनके चरित्रों में जीवन की गुत्थियों के पेच नहीं हैं। अधिकतर किशोर और किशोरियों के जीवन की गाथाएँ हैं। इसी कारण उनके पाठक भी किशोरवय के ही हैं और इन पाठकों की संख्या उनके अवसान के बाद भी कम नहीं हुई है। उनकी कोई भी कृति पढ़ने के बाद, पाठक दूसरी कृति पढ़ने लिये बेताब हो उठते हैं।

ग्रामीण और शहरी जीवन-चित्र देते हुए उन्होंने गंभीर समस्याओं का सामना नहीं किया। इसी कारण उनकी कहानियाँ और चरित्र सीधे और सुनिश्चित हैं। उनमें चढ़ाव-उतार, वैविध्य और संग्रथन नहीं मिलता। उनकी भाषा सरल हिन्दी है, जो किसी किसी रचना में उर्दू के क़रीब आ जाती है।

उनके कई पाठकों से मेरा सम्पर्क रहा है। न जाने क्या बात है कि कान्त-साहित्य के अध्ययन काल में ये पाठक उनके अनन्य भक्त पाये जाते हैं। आगे चलकर यदि उनकी रुचि का परिवर्तन हुआ तो यही पाठक उनका नाम तक लेना पसन्द नहीं करते। यह विचित्र स्थिति है, एक ओर 'उग्र' जैसे साहित्यकार उन्हें अपना शिष्य घोषित करते हैं, दूसरी ओर हिन्दी के असंख्य जनसमूह में निमग्न ये पाठक इस प्रकार का आचरण दिखलाते हैं।

मेरी दृष्टि में कान्त ने हिन्दी के पाठकों की संख्या बढ़ाई है, और

यह उनकी महत्त्वपूर्ण सफलता है। ऐसे रचनाकार के जीवन का परिचय जहाँ सामान्य पाठक के लिए लाभदायक है, वहाँ लेखकों के लिए भी।

केशर उपन्यासकार हैं। इस पुस्तक में उनकी औपन्यासिक कला ने एक नया मोड़ लिया है। इस शैली में हिन्दी के किसी अन्य साहित्य-कार पर कोई दूसरी पुस्तक नहीं है। उपेन्द्रनाथ अश्क की 'मंटो : मेरा दुश्मन' किताब कुछ इसी ढंग में आती है, यद्यपि उसमें अश्क ने अपने आपको बढ़ा-चढ़ा दिया है। इस पुस्तक में ऐसी बात नहीं है। प्रकाशन तिथि की दृष्टि से ही नहीं, व्यंजना की दृष्टि से भी यह पुस्तक नई है।

६/१९ रानी भवानी गली,
वाराणसी—१
२१-३-१९५९

—त्रिलोचन

कही जाती है मुँह तक आई बात

'कान्त साहित्य' मैंने कभी नहीं पढ़ा, मौका मिलने पर भी। इसलिए नहीं कि अपने आपको 'महान्' समझता हूँ, बल्कि इसलिए कि उनके विरुद्ध जो जिहाद चल रहा था, उससे मैं भी प्रभावित था। यही वजह है कि इनके साहित्य से कुछ पा सकूँगा यह भरोसा मुझे नहीं था।

आसाम के घने जंगलों में, नेपाल की तराई में, मध्य प्रदेश के बंजर इलाके में और राजस्थान की रेतीली भूमि में—जहाँ भी मैं गया, वहाँ वक्त काटने के लिए जब गृहस्वामी से कोई पुस्तक माँगी तो मुझे 'कान्त साहित्य' ही पढ़ने को दिया गया; फिर भी नहीं पढ़ा। पता नहीं क्यों? इच्छा ही नहीं हो पाई।

मुझे अच्छी तरह याद है, एकबार अपने इसी मूड में स्व० कान्त से कहा था—आप अपने उपन्यासों में अगर इसी 'यौनवाद' को स्थान देना चाहते हैं तो लारेन्स-कुप्रिन की परम्परा को अपनायें। लेकिन उन्हें मेरी यह सलाह पसन्द नहीं आयी। एक प्रकार से यह अच्छा ही हुआ; वर्ना प्रतिष्ठा के मोह में, इन महान कहे जानेवाले व्यक्तियों की दलबन्दी में, वे कुछ नहीं कर पाते। जो कुछ वह अपने जीवन काल में कर गये हैं, जो मरने के बाद भी कम नहीं होने का। अर्थात् हिन्दी के लिये पाठक तैयार करना। बाबू देवकीनन्दन खत्री के बाद एक भी उपन्यास-कार इस बात का दावा नहीं कर सकता कि उसने कान्त जी से अधिक पाठक बनाये हैं। भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक किसी ने इतनी शोहरत नहीं पाई। और यह सब वे अपने जीवन काल में ही देख गये। सच पूछिये तो यही उनके जीवन की सफलता भी रही।

'कुशवाहा कान्त—जीवन और साहित्य' पुस्तक सच पूछिए तो अपने नाम को रंचमात्र भी सार्थक नहीं करती। अधिक संगत नाम होता

'कुशवाहा कान्त—जैसा देखा' या केवल 'कुशवाहा कान्त'। पुस्तक पढ़ने के पहले सोचा था कि हजरत केशर ने भी अपने गुरु को औरों की तरह 'महान्' बनाया होगा; नहीं तो एक शिष्य के नाते श्रद्धा अर्पित की होगी। लेकिन ज्यों-ज्यों पढ़ता गया त्यों-त्यों मेरी धारणा गलत साबित होती गयी।

अपने गुरु की कमजोरियों पर अगर वह पर्दा डाल देता तो संभवतः पुस्तक व्यर्थ-सी प्रतीत होती, लेकिन उसने ईमानदारी से सही तथ्यों को इस ढंग से प्रस्तुत किया है कि पढ़ने के वक्त हिन्दी के कई धक्काड़ संस्मरण लेखकों की याद आ जाती है। हिन्दी में मेरी समझ से, कुल जमा चार-पाँच लेखक हैं, जो निराले ढंग से संस्मरण लिखते हैं। सर्व-श्री पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', महावीर प्रसाद त्यागी, पं० बनारसी दास चतुर्वेदी, कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर और रामवृक्ष बेनीपुरी।

जहाँ तक शैली का प्रश्न है, इस दिशा में केशर ने एक नया प्रयोग किया है। इस शैली में अब तक किसी साहित्यकार का संस्मरण मेरे देखने में तो नहीं आया है। 'मन्टो मेरा दुश्मन' में श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने प्रयोग तो किया है, पर वे मन्टो की बजाय अपना ही व्यक्तित्व उभारने में पथभ्रान्त-से हो गये हैं। मन्टो का वास्तविक चित्रण अगर किसी ने किया है तो श्री कृशन चन्दर और श्रीमती इस्तमत चुगताई ने। श्रीकृशन चन्दर और केशर में उतना ही अन्तर है जितना दोनों की शैली में।

केशर मेरा अभिन्न है, बड़े भाई की तरह श्रद्धा करता है और छोटे भाई-सा मुझसे रुठता भी है। आश्चर्य की ही तो बात है कि आज तक उसकी एक भी रचना आदि से अन्त तक तबीयत से नहीं पढ़ पाया। इसलिए नहीं कि वह कान्त का शिष्य है, बल्कि इसलिए कि शुरू तो करता है चमत्कारी ढंग से पर अन्त में लड़खड़ा जाता है। लेकिन प्रस्तुत पुस्तक को आदि से अन्त तक समाप्त करके ही उठा हूँ। किसी पुस्तक को आदि से अन्त तक पढ़ने का धैर्य मुझमें कम है और इस दिशा में यह पुस्तक मेरे धैर्य पर विजय प्राप्त कर सकी है, अतः पुस्तक की उपयोगिता

स्वतः सिद्ध है। के० ईश्वरदत्त जीवन भर ए० जी० गार्डनर की शैली पर कलम माँजते रहे और अन्त में एक दिन उन्हें सफलता भी मिली। स्वयं गार्डनर ने उन्हें साधुवाद दिया है। के० ईश्वरदत्त इसे अपने जीवन की सबसे बड़ी सफलता मानते हैं। केशर भी इस पुस्तक को श्रद्धा के पुष्प या अभिनन्दन के रूप में नहीं—अपने जीवन की सबसे महत् कृति मानें तो गलत न होगा। कान्त का व्यक्तित्व और उनका साहित्य दोनों का मेरे निकट कुछ भी असर नहीं है, पर यह कृति 'केशर' के साथ-साथ उन्हें भी अमर बना देगी—इसमें कोई सन्देह नहीं।

संस्मरण लिखने वाले लेखक इसे स्वीकार करेंगे कि शब्दजाल द्वारा किसी व्यक्ति का जीवन सही-सही उतार देना उतना सरल नहीं है, जितना श्रद्धा और अपनत्व के भाव में प्रकट कर देना। किसी व्यक्ति का संस्मरण लिखते समय लेखक अपने व्यक्तित्व को तटस्थ नहीं रख पाता। केशर ने भी यही किया है, पर अपने पूर्व जीवन तथा विचारों पर उसने पर्दा नहीं डाला है। यही उसकी सबसे बड़ी विशेषता है, वर्ना हिन्दी में ऐसों की कमी नहीं है जो अपना प्रशस्तिगान अपने शिष्यों से कराते हैं और स्वयं करते भी नहीं चूकते। एक ओर उसने जहाँ अपनी कमजोरियों को छिपाया नहीं है, वहीं उसने कान्त के जीवन के उस रहस्यमय भाग को भी ईमानदारी और साहस के साथ प्रकाशित किया है, जो अब तक छिपा रहा।

इस ढंग की कई पुस्तकें बँगला में प्रकाशित हो चुकी हैं। अगर केशर बँगला भाषा का जानकार होता तो मैं निस्संकोच यह स्वीकार कर लेता कि प्रस्तुत पुस्तक पर बँगला के संस्मरण-साहित्य का प्रभाव पड़ा है। उसकी प्रतिभा के इस चमत्कारी प्रमाण पर मुझे गर्व है इसलिये कि केशर मेरा अपना है।

सिद्धगिरि बाग, बनारस
३।४।५९

—विश्वनाथ मुखर्जी

कुछ अपनी

"कुशवाहा 'कान्त' का संस्मरण लिख-छाप रहे हो ! तुम्हें और कोई काम नहीं रह गया था क्या ?

"अरे, मानता हूँ वे तुम्हारे गुरु रहे हैं। मगर इसका मतलब यह तो नहीं कि हर गुरुपूर्णिमा पर पुष्प अर्पित करते रहो। यह बचपना है, बेवकूफ़ी है।

"तुम्हें बनारस में गुरु बनाने को कुशवाहा कान्त ही मिले थे ! तुम्हें न तो आँख ही है केशर, न बुद्धि !

"क्या कहा, तुमने इतना परिश्रम किया है कि मैं तुम्हारी पीठ ठोक दूँगा....शाबाशी दूंगा....कुशवाहा कान्त पर संस्मरण लिखो, सुरैया-नर्गिस पर महाकाव्य लिखो, जयचन्दों का प्रशस्तिगान करो और मैं शाबाशी दूँ ?....असम्भव। तुम्हारी इस पुस्तक का मैं स्पर्श भी नहीं करूँगा, पढ़ना तो दूर रहा। सोचा था, तुमने अपने को, उस 'नरक' से अलग कर लिया है। तुम्हारी इस पुस्तक ने मुझे ठेस पहुँचाई है।" .

श्रद्धेय 'दादा' के मुख से उक्त शब्दों के बाण छूटते रहे और मैं विमूढ़-अवसन्न-सा सहता रहा। बात कोई एक सप्ताह पहले की है। यह पीड़ा हृदय ने नस-नस में प्रवाहित कर दी। अकेला नहीं था। आस-पास अनेक साहित्यकार बन्धु भी थे, जो दादा के शब्दों का समर्थन और मेरी विमूढ़ता-अवसन्नता का उपहास करने में आवश्यकता से अधिक उत्साह प्रकट कर रहे थे।

'दादा' हिन्दी के कीर्तिलब्ध साहित्यकार तो हैं ही; हम सबके लिए स्नेहमय भी हैं। 'आघात' से प्रपीड़ित हुआ, अन्दर ही अन्दर छटपटा भी उठा था; परन्तु क्षणभर के लिए ही। मन को टटोला, वहाँ पूर्ववत् सन्तोष और उत्साह का अनुभव हुआ।

दादा का मुझपर अधिकार है, स्नेह भी। आघात की वह क्षणिक अवसन्नता मिटी तो मेरी ओर देख सम्भवतः उन्हें थोड़ा आश्चर्य हुआ होगा। तभी तो उनके मुख से स्निग्ध स्वर में निकला—"कुछ अन्यथा न मानना केशर, उम्हें हतोत्साह करने की मेरी मंशा न थी !"

मैंने अभी तक ताजमहल नहीं देखा। अगर कुछ लोगों के कहने में आकर; उसके प्रति घृणा व्यक्त करने लगूँ, तो कैसा लगेगा ?

दादा से भी अगर कोई पूछे कि आपने कुशवाहा कान्त की कोई पुस्तक पढ़ी है ? तो, मेरा विश्वास है, उनका उत्तर होगा, 'पढ़ी ? मैंने तो देखी तक नहीं !' फिर यह घृणा ? सुनी-सुनाई अफवाहों पर। मैं जानता हूँ, उपन्यास वे दस-पाँच साल में एकाध ही पढ़ पाते हैं। ऐसी स्थिति में, अगर कुशवाहा कान्त के स्थान पर, हिन्दी के किसी भी 'महान्' उपन्यासकार को, फ़िट कर दिया जाय तो उसके प्रति भी वे वही धारणा बना लेंगे !

यह सब लिखने की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि कुशवाहा कान्त के प्रति मन में घृणा का पारावार, हिन्दी के नब्बे-पंचानबे सैकड़े साहित्यिकों में लहराता है और वह 'घृणा' बहुधा अफवाह पर टिकी होती है।

अपने साहित्य और उसके समर्थ 'कारों' पर मुझे घृणा तो नहीं होती पर उनकी 'समझ' पर अफ़सोस अवश्य होता है।

*

प्रस्तुत पुस्तक की संयोजना में मैं चार वर्षों से लगा हूँ। 'कुशवाहा कान्त—जीवन और साहित्य' का मेरे एक मित्र ने, कई पत्रिकाओं में विज्ञापन भी किया था, आज से तीन वर्ष पूर्व। मित्र का प्रकाशन तो डूबा ही वह मेरे लेखन-उत्साह को भी ले डूबा।

विज्ञापन हो चुका था। भैया कान्त के असंख्य पाठकों की उत्सुकता थम नहीं रही थी। अपने सर्वप्रिय उपन्यासकार के जीवन के सम्बन्ध में जानने की उत्सुकता स्वाभाविक थी भी। उनकी आकुल माँग आती

रही; पर मैं मौन ही रहा। एक बार अशेष (जो अब नहीं रहा) ने अपने सहयोग का अवलम्ब देकर, मेरे उस मौन को भग करना चाहा था। काश उस अमूल्य अवलम्ब के माध्यम से यह पुस्तक प्रस्तुत हो सकी होती !

'४८ के आरंभ मे कान्त जी से मेरा परिचय हुआ और ५२ के आरभ मे मौत ने उसे बड़ी बेदर्दी से छिन्न कर डाला। चार वर्षो के अल्प समय की स्मृतियों के कोष को छेड़ता तो भीड़ के रेले में बिछुड़ गये बालक की दशा हो जाती।

कान्त जी पर कैसे और क्या लिखूं ? हृदय में समाई स्मृतियों की भीड़, मस्तिष्क में झंझा बनकर उमड़ उठती।

पाठकों की आकुलता और मित्रों की अनवरत छेड़-छाड़ ने अन्ततः मुझे विवश किया ओर जैसा भी मुझसे बन पाया—'कुशवाहा कान्त' आपके समक्ष है।

चार वर्षों में कान्त जी को मैंने जैसा पाया, जैसा देखा—उसे बिल्कुल उसी रूप में, लिपिबद्ध करने की चेष्टा की है। इसमें मेरा अपना कुछ नहीं है; जो है, अमिट बन गयी स्मृतियों का ही है। मैं मुख्यतः कथाकार हूँ और कथाकार की किसी भी रचना में कल्पना का प्रमुख भाग होता है। बहुत संभव है, मेरी इस रचना में भी 'कल्पना का योग' आरोपित हो; परन्तु यह मेरे प्रति नही, भैया की पवित्र स्मृतियों के प्रति अन्याय होगा। इसके अनगिनत गवाह आज भी मौजूद हैं।

दो शब्द पुस्तक की शैली के सम्बन्ध में—

अपने को मैं साहित्य का विद्यार्थी मानता हूँ। शैली और भाषा पर सोचने की चेष्टा तो करता हूँ परन्तु अल्पज्ञता सामने आ जाती है।

प्रसिद्ध प्रगतिशील कवि और आलोचक भाई शमशेर बहादुर सिंह ने, मुद्रणकाल में प्रस्तुत पुस्तक के फ़ार्म एक ही सिटिंग में समाप्त करने के उपरान्त, शैली और भाषा को सराहकर मेरा उत्साह बढ़ाया। उनकी सुतीक्ष्ण दृष्टि में, मेरी अनगिनत त्रुटियाँ भी उभरने से बच न पाई थीं और

वह मेरे लिए मूल्यवान भी कम नहीं। धन्यवाद देकर शमशेर भाई के समक्ष अपने को अपराधी सिद्ध करने का साहस मुझमें नहीं।

*

पहले सोचा था, संस्मरण के साथ ही कान्त जी के साहित्य पर परिचयात्मक समीक्षा भी दूँ। परन्तु बहुत प्रयत्न करने पर भी, संस्मरण-प्रवाह थमता ही न था। पुस्तक का आकार अनुमान से अधिक बढ़ चला था।

साहित्य-समीक्षा का विचार, विवशता से स्थगित करना पड़ा। अगर संभव हुआ तो शीघ्र ही एक पृथक् पुस्तक में, उसे आपके समक्ष प्रस्तुत करूँगा। कागज का अभाव भी इसमें सहायक रहा है।

*

श्रद्धेय त्रिलोचन शास्त्री की 'पूर्विका' और स्नेहमय भाई विश्वनाथ मुखर्जी की 'मुँह तक आई बात' के प्रति आभार-प्रदर्शन की प्रथा का पालन मेरे लिए साध्य नहीं।

जयन्त भाई, कुबेर सिंह जी, मोहन सिंह, जवाहरलाल गुप्त और परम प्रिय प्यारेलाल 'आवारा' ने प्रस्तुत पुस्तक के लिए अगर अपने अमूल्य सुझाव-सहयोग न दिये होते तो बहुत संभव था, मैं अन्धकार में ही भटकता रह जाता।

प्रेस कापी करने में मुकुन्द, आवरण-सज्जा और चित्रों के संचयन में भाई मधुर के परिश्रम और लगन भी कम महत्वपूर्ण नहीं रहे हैं।

राष्ट्रभाषा मुद्रणालय के संचालक लक्ष्मीचन्द गुप्त ने पुस्तक के मुद्रण में जिस तत्परता और सावधानी का परिचय दिया है, उसे भूल पाना कठिन है। बहुत सतर्क रहने पर भी प्रूफ़ की बहुत सी चिन्त्य अशुद्धियाँ रह गई हैं, जिसका उत्तरदायित्व मुद्रणालय के भूतों पर भी है और मुझ पर भी।

कलायन,
बी० ९।१, फ़ीलखाना, वाराणसी
४-४-५९

—केशर

स्मृति--प्रवाह
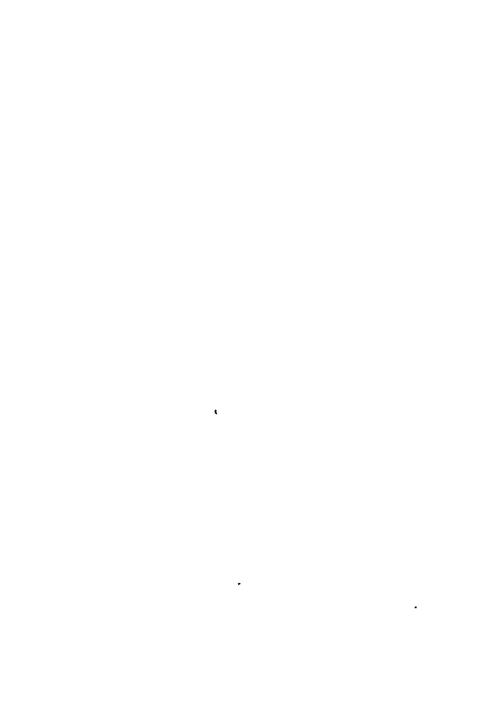
वह डाल क्या कि जिसपर बैठे न कोई पंछी

"आप केशर हैं न ?"

"जी !" प्रश्न इतना आकस्मिक था कि मैं अचकचा गया। सामने एक लम्बी-सी मेज़पर झुके हुए, स्वस्थ शरीर, मध्यम-क़द और मुस्करा रही-सी आँखों पर मोटे फ्रेम का चश्मा लगाये जिस व्यक्ति ने मुझे विमूढ़ बना दिया था वह—मैंने देखा, मुस्कराने लगा था। ऐसी मुस्कान, जो पूर्णतया 'ओरिजनल' थी। कम से कम मैंने तो नहीं देखी कहीं, ऐसी। पास ही कुर्सी पर एक दूसरे सज्जन भी बैठे थे, जो मुझे बुरी तरह घूरे चले जा रहे थे। मैं घबरा उठा।

"आइए न, बैठिए !" स्नेहभरा स्वागत, मुस्कानसने अधरों पर से फिसला।

"जी, मैं कुशवाहा जी से मिलना चाहता हूँ !"

"अच्छा !"

"जी !"

"सचमुच !"

"मैं जा रहा हूँ !" और मैं पलटने को हुआ—"शायद अभी वे मिर्ज़ापुर से आये नहीं...."

"अरे, क्यों ?"

"जी !" मुश्किल से कह पाया। मेरी घबराहट बढ़ती ही जा रही थी।

"यह 'जी' आपको बहुत पसन्द है क्या ?" मुस्कान ठहाके में परिणत हो गयी थी। वे दूसरे सज्जन भी खुलकर सहयोग कर रहे थे। अब वहाँ खड़ा रहना मेरे लिये असंभव हो गया। मेरे पैर दरवाज़े की ओर बढ़ गये—"अरे-अरे, केशर जी, सुनिए तो सही !" पैर थम तो गये सही पर लगने लगा, अगर थोड़ी देर भी वहाँ रुका रहा तो रो दूँगा। उन्होंने संभवतः इसे अनुभव किया और—"इधर आइए और आराम से बैठ जाइए !" और मैं सम्मोहित-सा, उस आश्चर्य-जनक चुम्बकीय-शक्ति में खिंचता हुआ बढ़ आया। दो बढ़ी हुई बाँहों ने मुझे कुर्सी पर बिठा दिया—"आप तो शरमाने में, लड़कियों के कान ही नहीं, नाक तक सफाया कर देते हैं...."

और सचमुच मुझ पर घड़ों पानी पड़ गया था। अपनी उस समय की शर्म—मूर्खता-ब्रायड संकोची स्वभाव पर। आज जब सोचता हूँ तो हैरत में पड़ जाता हूँ।

"आप टिम्बकटू से तो नहीं आ रहे हैं ?" दूसरे सज्जन थे।

मैं तुरत ही कुर्सी से उठ पड़ा।

"अरे भई, बुरा मान गये !" उनका स्वर गम्भीर हो आया था—"कुशवाहाजी से आप परिचित तो होंगे ही ?"

"जी !"

"तो...." वे कोई और 'रिमार्क' करने जा रहे थे कि उनकी बात को बीच ही में लोक लिया गया—"चुप भी रहो यार ! केशर जी, मैंने तो आपको देखते ही पहचान लिया पर आप....बड़ा आश्चर्य है.... अच्छा, अब शर्म-वर्म को मारिए गोली और बैठ जाइए !"

"तो....तो आप...." मैं चौंक पड़ा।

"अजी, और नहीं तो क्या?" वे पुनः हँस पड़े—"मेरा पत्र आपको मिल तो गया था न?"

झटके के साथ उठकर उनके पैरों की ओर झुक ही रहा था कि उन्होंने सीधा खड़ा कर दिया। मैंने अपनी पीठ पर स्नेहभरी थपक को महसूस किया और कानों में गूँज-गूँजकर रह गया—"यह क्या पागल-पन कर रहे हैं?"

और यही था कान्त-केशर का प्रथम साक्षात्!

फरवरी सन् ४८ की कोई तारीख थी, जब मैं मन में कुशवाहा 'कान्त' जी से मिलने की आकुल-कांक्षा समेटे, बाँसफाटक स्थित बम्बई प्रिंटिंग कॉटेज के ऑफिस में पहुँचा था। उस समय 'चिनगारी' वहीं से छपती थी।

उल्लास का बाँध टूट रहा था, जब उन्होंने अपनी बगल में मुझे बिठाया।

"घर से सीधे यहीं आ रहे हैं?"

"हाँ!"

"अच्छा-अच्छा। हाँ तो, आपसे परिचित हो लें। अब तो इनसे अक्सर ही मुठभेड़ होती रहेगी। आप हैं, मेरे बड़े जीजाजी, राम-लखनसिंह!"

मैंने अपने दोनों हाथ जोड़ दिये।

दस वर्ष हो रहे हैं पर उस घड़ी की स्मृति, आज भी उसी ताज़गी और स्पष्टता के साथ मेरी आँखों के समक्ष मूर्त्त हो उठती है। मगर आह, उस चिरन्तन-स्मृति के पंख कट चुके हैं; उसकी सुकुमारता खून में डूबकर कितनी त्रासदायक बन गयी है! भैया 'कान्त' अब हमारे बीच नहीं हैं, न जाने क्यों मानने को मन नहीं होता। स्मृति-पटल पर उनकी स्मृति तार-तार होकर बिखरी पड़ रही है और लगता है, मैं उसमें खोता जा रहा हूँ....

खैर। मुझे तो आगे बढ़ना ही है।

● ●

'चिनगारी' का उस समय दूसरा या तीसरा अङ्क छप रहा था। हमारे परिचय का माध्यम भी 'चिनगारी' ही थी। मैं उस समय गोला दीनानाथ की एक किराना-दूकान में नौकरी करता था। सोचता हूँ तो रोमांच हो आता है, अगर कान्तजी के अपनत्व की छाया मुझे न मिली होती तो इसमें कोई संदेह नहीं, केशर, केशर नहीं, अपने पुश्तैनी-पेशे के रूप में कोई दूकान कर लिये होता और आजीवन लौंग-मिर्च-हल्दी के हिसाब-किताब में ग़र्क़ रहता! वे मेरे गुरु नहीं, निर्माता थे।

नौ-दस की उमर से लेकर, सत्रह-अठारह की उमर तक का मेरा जीवन अपने आप में एक 'इतिहास' है। ऐसा इतिहास, जिसके रेशे-रेशे में, मेरे अन्तस् का अवसाद और संघर्षों की ज्वाला समाहित है। पिताजी मरे तो मैं सात साल का था। मुझ बच्चे को, विधवा माँ के अतिरिक्त अपना कहनेवाला दुनिया में कोई न था। हाँ, शायद मैं ग़लत कह रहा हूँ। था, कर्ज़ का बोझ! मैं उस वक्त तीसरी या चौथी कक्षा में पढ़ रहा था। यूँ तो मेरे परिवार की गिनती मुहल्ले के रईस-खानदान में होती थी। मगर काशी नरेश के, दीर्घकाल तक चलनेवाले एक मुक़दमें में पिताजी ने सब कुछ स्वाहा कर दिया था। उनका जब देहावसान हुआ तो एक मकान के अतिरिक्त कुछ भी शेष नहीं रह गया था। मुक़दमें में, काशी नरेश की क़रीब दो हजार की डिगरी हो चुकी थी। मकान के लिये भयङ्कर ख़तरा आ पड़ा था और वह दिन दूर नहीं था, जब हम माँ-बेटे, बेघर-बार हो गली-गली ठोकरें खाने को बाध्य हो जाते। मुझे खूब याद है, माँ ने अपने बचे-खुचे जेवर, बर्तन आदि बेच डाले। मकान तो बच गया मगर

हम एकदम खाली हो चुके थे। माँ की कर्मठता का स्मरण करता हूँ तो मस्तक श्रद्धावनत हो जाता है। उसने सामने आ पड़े संकट का सामना अभूतपूर्व धीरता के साथ किया। वह मेहनत-मज़दूरी करके मेरा पालन-पोषण करने में दत्त-चित्त हो गयी। बोझा ढोने से लेकर तरकारी बेचने तक का काम किया उसने, स्वयं आधा पेट खाया मगर न तो मुझे कभी भूखा रहने दिया न ही किसी को अपनी विवशता के प्रति सहानुभूति प्रकट करने का मौका ही। आत्म-विश्वास और स्वाभिमान की प्रतीक, ऐसी ही माँ के स्नेह की छाया में, मेरे बचपन की डगमगाती नाव आगे बढ़ी। माँ का तनतोड़ परि-श्रम, मैं अधिक दिनों तक नहीं देख पाया। परिस्थितियों ने मुझ बालक की अबोधता को असमय ही पका दिया था न? स्कूली-पढ़ाई को सदैव के लिये नमस्कार कर, नौ या दस की उमर में माँ के तनतोड़-परिश्रम में हाथ बँटाने लग गया। माँ की ममता, मेरे सुकुमार शरीर और जीवन के उस 'कठोर-सत्य' की तुलना कर तड़प उठी होगी, चीत्कार उठी होगी; पर उसने 'भावुकता' को पास नहीं फटकने दिया। मिली तो नौकरी (जैसी भी मिली) और नहीं तो छोटे-मोटे हस्तोद्योगों के द्वारा 'रोटी का धन्धा' करके मेरा बचपन, नौ ही वर्ष की वय में 'वयस्क' हो चुका था। अस्तु।

कान्तजी से जिस समय मेरा परिचय हुआ, मेरी उम्र रही होगी सत्रह-अठारह की। माँ ने घर ही में परचून की एक छोटी-सी दूकान कर ली थी। मैं भी तरक्की पर तरक्की करता, गोलादीनानाथ की एक दूकान पर बाकायदा सर्विस-मैन बन चुका था। आने-दो-आने रोज पानेवाला, अब तीस रुपये महीने पाने लगा था!—कितनी 'शानदार' थी तरक्की की यह मञ्जिल!

बचपन से ही लेखक बनने का सपना देखता था मैं। आश्चर्य की बात तो है, पर है बिल्कुल सच कि मैंने आठ ही साल की उम्र में

एक उपन्यास लिख मारा था—'तिलस्म रक्तकुंड'। पिताजी ऐयारी-तिलस्मी-रोमांचकारी उपन्यासों के भयङ्कर पाठक थे। मैं भूला नहीं हूँ, अपने नन्हें इकलौते को, रात में सोने के पहले वे घंटों, 'चन्द्रकान्ता'-'भूतनाथ' की कहानी बड़े चाव से सुनाया करते थे। मेरी उम्र के बच्चे जिस समय नानी की, परी-देव ब्रांड कहानियों में उभ-चुभ कर रहे थे, उस समय पिताजी के द्वारा मेरे भविष्यत् (अब वर्तमान् !) की नींव डाली जा रही थी। अक्षरांभ होते-होते मैं, देवकीनन्दन खत्री, दुर्गाप्रसाद खत्री और किशोरीलाल गोस्वामी की कृतियों से परिचित हो गया था। काश, मेरे पिताजी आज के अपने लाड़ले पुत्र को देख पाते ! उमर के साथ ही उपन्यास-कहानी पढ़ने का चस्का गहरा होता गया। ऐयारी-तिलस्मी मोह 'माया', 'मनोहर कहानियाँ', 'चाँद' और 'हंस' आदि पत्र-पत्रिकाओं में भी रस लेने लगा।

सुबह आठ से रात के ग्यारह बजे तक का समय तो मेहनत-मज़दूरी—रोटी के धंधे में सर्फ हो जाते थे, शेष समय पढ़ने और लिखने के साथ ही सोने-खाने के निमित्त निकल पाता था। कभी-कभी तो पढ़ते ही पढ़ते पूरी रात खिसक जाती थी और एक-दो घंटे सोने के फिक्सड्-प्रोग्राम में भी व्याघात पड़ जाता था। इसी में मेरी आँखों की रोशनी असमय ही कमज़ोर पड़ गयी। मैंने आँखें खोकर अपने 'कथाकार' को पाया है।

अरे, मैं तो अपने ही विषय में बकता चला जा रहा हूँ।

● ●

उस दिन सबेरे से बैठा-बैठा रात के नौ बज गये। 'कान्त' जी ने बीच-बीच में कई बार टोंका भी पर उस 'स्वर्ग' से 'नरक' में जाने की किसे सुधि थी ! अपनी क्षुद्रता को छिपाने के लिये मैंने कान्तजी को भ्रम में रखा था कि एक दिन दूकान पर न जाने का मतलब है, एक

रुपये की हत्या ! वे तो समझ रहे थे, सम्पन्न-परिवार का लड़का है, किसी बात की चिन्ता तो होगी नहीं ।

"आपके परिवार में और कौन-कौन हैं ?"

"माँ !"

"बस ?"

"हाँ !"

"दूकान पर कौन होगा इस समय ?"

"हैं, एक !" मेरा उड़ता हुआ-सा उत्तर था ।

"नौकर होंगे !"

"हाँ !"

रामलखन जी अभी तक बैठे ही थे। चुपचाप हम दोनों का डायलाग सुनते जा रहे थे वे । जाने क्यों, मुझे पहली भेंट में उनसे बड़ा संकोच लगता था । मुझे उस समय वे बड़े गम्भीर किस्म के आदमी लगे थे; परन्तु बाद में, उनकी 'तबीयतदारी' की पर्तें खुलीं तो मुझे मन ही मन 'माशाअल्ला' कहना पड़ गया !

हजरत ने छूटते ही प्रश्न कर डाला मुझसे—"आप लेखक कैसे बन गये जनाब !"

मैं सकपका गया ।

कान्तजी बोले—"क्या 'रसालियापन' से भरा सवाल है आपका ! अगर केशरजी आपसे पूछें कि आप रामलखन सिंह कैसे बन गये तो क्या जवाब देंगे आप ?" नहले पर दहला पड़ा था। बेचारे हें-हें-हें करके रह गये । कान्तजी उस समय 'चिनगारी' के प्रूफ-संशोधन के साथ ही सारे प्रेस की व्यवस्था का भी कार्य सम्पन्न करते थे । परन्तु व्यस्तता में भी उनके अन्तस् की मस्ती कहीं दबती नहीं महसूस होती थी । कभी प्रेस के प्रोप्राइटर मेवालाल को 'बनाने' में लग जाते थे तो

कभी फोरमैन लक्ष्मीचन्द की दाढ़ी का शब्दचित्र ही बनाने लगते। मैं विमुग्धभाव से देखता रहा, देखता रहा।

काम करने की उनकी-सी शैली के कहीं फिर दर्शन नहीं हुए।

किसी को पहली ही भेंट में, अपने अपूर्व अपनत्व से खरीद लेनेवाले उनके व्यक्तित्व को मैं ही क्या, वे भी शायद कभी भूल न पायें, जो क्षणिक-सम्पर्क में भी आये हैं।

मैं उस दिन सवेरे बच्चा-सा एक कहानी लेखक था, बैल की तरह सुबह सात-आठ से रात के ग्यारह-बारह तक खटनेवाला एक मजदूर था, जिसकी महज़ दस-बारह कहानियाँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी थीं और जो केवल ३०) महीना पाता था—परन्तु रात के नौ बजे जब घर जाने के लिये बेमन से उठा तो सुप्रसिद्ध उपन्यासकार कुशवाहा 'कान्त' का छोटा भाई हो चुका था!

"अब चलूँ!" मैंने पूछा था।

"जायेंगे?"

मन में हुआ कि कह दूँ—'नहीं!' पर इतनी देर उनके निकट बैठ चुका था कि न चाहते हुए भी मुँह से निकल गया—"बहुत देर हो गयी....घर पर माँ घबरा रही होगी!"

"अच्छा तो फिर जाइए!" वे कुर्सी से उठ पड़े—"मैं महीने के बीस दिन काशी में 'चिनगारी' का सर्वेंट बना रहता हूँ। अब तो आने में संकोच की कोई गुंजाइश नहीं होनी चाहिए....सवेरे, दूकान जाते समय, आ जाया करें...." फिर जैसे कुछ याद हो आया हो—"पान तो खाते जाइए। बैठिये, अभी मँगवाता हूँ। पान आया और खाने के बाद मैंने प्रणाम किया तो उन्होंने कन्धे पर स्नेह की एक थपक दी। मेरा मन भरा-भरा आ रहा था। जल्दी से दरवाजा पार करके गली में आ गया। उड़ता-उड़ता स्वर मेरे कानों में आ समाया—"अज़ीब लड़का है मेवा, यह केशर भो...." वे प्रेस के मालिक मेवा

लाल गुप्त से कह रहे थे। और मेरा भरा-भरा मन, आँखों में अश्रु-बिन्दु बन कर झिलमिला उठा।

आज—

दस वर्षों के उपरान्त स्मृति ने उस घड़ी को स्पर्श किया है तो मन में एक हूक-सी उठ पड़ी है।

परिचय की वह प्रथम ग्रंथि, मेरे उस समय के वर्तमान को चूर-मार करके भविष्य—स्वर्णिम भविष्य का निर्माण करनेवाली थी—इसकी मैंने कल्पना भी नहीं की थी।

जाने क्यों बार-बार नज़ीर भाई का यह शेर याद आ रहा है—

वह डाल क्या कि जिस पर बैठे न कोई पंछी....

लगता है, नज़ीर भाई की क़लम ने अनजाने ही मेरे भैया 'कान्त' के लिये ही अपने इस शेर की रचना कर डाली है।

जाने कब और कैसे गली पार करके मुख्य सड़क पर आया।

रिक्शे पर चढ़ने की उस समय आदत नहीं लग पायी थी सो चलते-चलते आँखें रास्ता नहीं, सपने देखने लगी थीं।

● ●

दस बजे के करीब घर पहुँचा तो माँ बहुत क्रुद्ध थी। मुझे कोई खास परेशानी नहीं हुई इसलिये कि उस परिस्थिति का सामना करने के लिये, रास्ते में ही अपने को तैयार कर चुका था। बात यह हुई कि दूकान पर नहीं गया तो मेरे मामा (जिनकी दूकान थी) पन-पनाते हुए घर आये थे और मन का 'बुखार' उतार कर चले गये थे। दूकान पर थोड़ी भी फ़ुरसत मिलते ही मैं सौदा बाँधने के लिये आयी, पुराने अखबारों-पत्रिकाओं की रद्दी से कुछ छाँट-बीनकर, पढ़ने में लग जाया करता था। माँ को मेरे पढ़ने-लिखने की आदत से पहले ही से विरोध था और जब मामा ने आकर मेरी उसी आदत का संकेत करते

हुए कहा कि दिन-रात वह कहानी-किस्सा में लगा रहता है, दूकान का काम करने की सुध होगी भी क्यों ? मामा को विश्वास था, फुरसत के समय, दूकान पर बैठकर पढ़ने जैसे बेकार और मनहूस काम से बिक्री-बट्टे को 'धक्का' पहुँचता है ! पहली बार जब मेरी कहानी छपी थी तो जानकर आश्चर्य न किया जाय, मामा ने आकर माँ से कहा था—अब तुम्हारा लड़का हाथ से गया। अखबार में नाम छप हो गया, अब जेल भी जायगा !....परन्तु जब मेरी प्रथम कहानी का 'आँधी' से पुरस्कार-स्वरूप ५) का मनीआर्डर आया तो मेरी बात जाने दीजिए, माँ को अपार संतोष हुआ था। यह समझकर कि मेरा पढ़ना-लिखना एकदम व्यर्थ नहीं। परन्तु इस लिखने-पढ़ने के फेर में ३०) महीने की "शानदार आमदनी' से हाथ धोने को वह कभी भी तैयार नहीं थी।

हाँ, तो, उस दिन जमकर लताड़ सुननी पड़ी माँ से। अपमान और व्यंग्यवाणों से विकल हो, मैंने एक-एक पैसे बचाकर खरीदी हुई अपनी सारी किताबों पर मिट्टी का तेल डालकर आग लगा दी और वहीं पड़कर फूट-फूटकर रो उठा। माँ ने लपककर मुझे अपनी गोद में समेट लिया और उसकी ममता ने, मुझे इस बात की प्रतिज्ञा करने को विवश कर दिया कि अब कभी किताबों की ओर देखूँगा भी नहीं और दूकान के काम में मन लगा दूँगा !

सबेरा हुआ। रात भर रोता हुआ सोया था। आवेश में आकर प्रतिज्ञा तो कर ली थी पर अब हृदय में सुइयाँ चुभ रही थीं। दूकान के लिये घर से निकला तो रास्ते में बम्बई प्रिंटिंग काटेज पड़ा। कल रात का वह आमन्त्रण याद आया, पैर थमे; फिर जल्दी से आगे बढ़ गये।

दस-पन्द्रह दिनों तक कान्तजी से मिल नहीं पाया। दूकान पर भूत की तरह पिसता था और रात में, आँखों और नींद की रस्साकशी और फिर आँसुओं में सब कुछ बह जाता। किताबों को जलाकर मुझे

वही अनुभव होता था, जो किसी को अपने ही हाथों अपना कलेजा काटने पर हो सकता है।

एक दिन।

छोटा-सा एक पत्र आया, मिर्जापुर से भेजा हुआ। वह मेरे पास आज भी कंजूस की सम्पत्ति की तरह सुरक्षित है। लिखा था—

प्रिय केशरजी,

मैं बनारस से यहाँ आ गया हूँ। 'चिनगारी' भेज रहा हूँ। आप फिर आये नहीं। मैं प्रतीक्षा करता रहा। क्या मुझसे कोई त्रुटि हो गयी? मैं ५ को आ रहा हूँ। आशा है, दर्शन देंगे।

आपका—

कु. का.

मेरी सारी प्रतिज्ञा हवा हो गयी। मन के घाव पर कान्तजी के उस कार्ड ने मरहम का काम किया था। और उस दिन माँ को देखकर शायद ताज्जुब हुआ होगा कि मेरे में सहसा ही यह परिवर्तन क्योंकर आ गया!

रात में घर लौटा तो, तीन की जगह पाँच रोटियाँ खा गया।

माँ ने पूछा—

"आज का हौ बचवा!"

"माई, अब हम दूकान-सुकान पर आदे दिन काम न करबे।"

माँ को आशंका हुई होगी, कहीं मेरा 'पागलपन' फिर से तो नहीं शुरू हो गया!

उसने जरा चकितभाव से पूछा—"तब का करबे!"

"हम अब किताब लिखे क काम करब!"

"अउर खाबे का?"

"ओसे पइसा भी मिली माई!"

"मिलल बाय!" उसने झिड़कते हुए कह दिया—"अगर एही

सब अवारागर्दी करे के होय त हमके जहर लिया के दे दे....न रहब, न...."

उमड़ते हुए उत्साह से उद्वेलित कलेजे पर जैसे किसी ने कसकर घूँसा मार दिया।

अपनी उस घड़ी की दमघोट स्थिति की कल्पना करने बैठा हूँ तो सब कुछ उसी रूप में आँखों के समक्ष मूर्त्त हो आया है। हम माँ-बेटों के डायलाग में, शब्दों का अन्तर हो सकता है, पर भाव लगभग उपर्युक्त ही रहे।

चाहे जो हो, ५ तारीख को मैं 'कान्त'जी से मिलने अवश्य जाऊँगा!

साहित्य-साधना से पैसे भी मिल सकते हैं। मैं बैल की जिन्दगी जी कर कुत्ते की मौत नहीं मरूँगा! मैं कहानी ही नहीं, उपन्यास लिखूँगा। मेरे नाम से किताबें छपेंगी और....और....जाने क्या-क्या कल्पना रात-दिन किया करता।

५ तारीख आयी।

मैं धड़कता हुआ दिल लिये बम्बई प्रिंटिंग कॉटेज के दरवाजे पर खड़ा था। बाहर ही से देखा, 'कान्त'जी की कुर्सी खाली थी। प्रेस के सामने अधिक देर खड़ा रहना संभव नहीं था। और अन्दर जाने की हिम्मत नहीं पड़ रही थी, सो घंटे भर में गली के कुछ नहीं तो बीसों चक्कर लगाये होंगे।

एक बार, जैसे ही प्रेस के सामने से गुजरा कि दरवाजे पर ही कान्तजी खड़े दीख गये। तहमत और गंजी पहने थे।

"अरे, आप!"

मैं जल्दी से उनके पास आ गया और लड़खड़ाता-सा स्वर—"मैं बहुत देर से आया हूँ....आप आ गये हैं?"

"तब अन्दर क्यों नहीं चले आये?"

मैं चुप। उत्तर ही क्या देता?

"ऐसे ही चक्कर काट रहे थे क्या?"

"हूँ!"

"अजब बात है!"

"आप दिखे नहीं....मैंने सोचा....सोचा कि...."

"कि कहीं अन्दर जाने पर कोई गर्दनिया न दे दे!" कह, वे खुलकर हँस पड़े। मैंने सोचा था, उनसे मिलकर जल्दी से दूकान चला जाऊँगा पर आठ का बारह कैसे बज गया, कुछ पता ही नहीं चला। मैंने किसी प्रेस को अब तक निकट से नहीं देखा था। टाइप कैसा होता है? मशीन पर छपता कैसे है?—यह सब देखने-जानने की वर्षों की उत्कण्ठा, प्रेस के अन्दर बैठने के बाद, सम्हाले नहीं सम्हल रही थी। कोई प्रूफ आता तो मैं उसे अजूबी चीज समझ कर देखता ही रह जाता। प्रेस की सारी कार्य-प्रणाली, मेरे लिये 'अचम्भे का बच्चा' ही थी!

मेरी दस-पन्द्रह कहानियाँ पत्र-पत्रिकाओं में छप चुकी थीं!—उस समय की अपनी भकुई-जिन्दगी और आज की जिन्दगी की तुलना क्या सम्भव है? नहीं।

हाँ तो, उन्होंने मेरी उत्सुकता को ताड़ ही लिया।

"आपने प्रेस देखा है?"

"हाँ-हाँ!"

"अन्दर से?"

"नहीं।"

"तो आइए!"

और अन्दर प्रेस में जाकर मैं चकितभाव से एक-एक चीज़ की ओर देखता रहा। मेरी आँखों के समक्ष एक नयी दुनिया बिखरी पड़ी थी।

"लक्ष्मी !"

"हाँ, भइया !" एक लम्बे-चौड़े दाढ़ी वाले आदमी ने आकर मुझे अजीब नज़र से देखा। पहली बार लक्ष्मी को देख चुका था सो मुझे कोई खास उत्सुकता उसके विषय में तो थी नहीं।

"केशरजी, यह हमारा गुरू है !" उनके अधरों पर मुस्कान की गहरी रेखा तिर रही थी।

"अरे !" मेरे मुँह से निकल गया।

"हाँ ! प्रेस के काम में इसी ने मुझे माहिर बनाया है...." वे कहे जा रहे थे और लक्ष्मी महोदय, अपने पीले-पीले बेढंगे दाँतों को बड़ी ही तबीयतदारी के साथ प्रदर्शन किये चले जा रहे थे। मुझे उसे 'कान्तजी' को अपना गुरू कहकर सम्बोधित करना, बड़ा अज़ीब-सा लग रहा था। और लक्ष्मी था कि पीछे लगा हुआ था। 'कान्तजी' के व्यक्तित्व की यह खास विशेषता थी कि उन्होंने कभी भी अपनी उच्चता और दूसरों की निम्नता का अहसास ही नहीं किया—आजीवन। वे प्रेस के कम्पोजिटर ही नहीं, फेरी लगाकर चाय बेचनेवाले तक से अपनी स्वाभाविक उन्मुक्तता से मिलते थे।

प्रेस-विभाग के खास-खास लोगों से उन्होंने मेरा परिचय कराया। और जब उनके साथ, आफ़िस में वापस आया तो—"देख लिया न आपने प्रेस ?"

"हूँ !"

"हाँ, इस अंक में देने के लिये अपनी कोई कहानी हो तो दे दीजिएगा !" और फिर अपने ही कहने लगे—"अरे, देंगे क्यों नहीं ?"

"पर...."

"कोई बात नहीं, फिर कभी सही। 'चिनगारी' तो आपकी अपनी पत्रिका है न ?"

मेरे हृदय का बाँध टूटा पड़ रहा था। कल्पनायें, जो केवल करने ही के निमित्त हुआ करतीं थीं, जो मेरे लिये गूलर के फूल से से कम नहीं लगती थीं, अब (उस समय) कितने निकट, कितनी साकार दीखने लगी थीं। माँ, दूकान और समस्त बाधाओं के रंग-मंच पर, मैं अपने भविष्यत् के सुनहरे चित्र को खूब स्पष्ट होता देखने लगा था। वे काम में डूब गये और मैं उनकी बगल में बैठा, अपने आप में डूब गया।

और हुआ यह कि दूकान जाने का अपना उस दिन का प्रोग्राम फेल होकर ही रहा! जब वे काम में मशगूल होते तो मेरी भी उपस्थिति का उन्हें ज्ञान नहीं रह जाता था और काम से खाली होते ही फिर वही अलमस्ती!

बार-बार आँखें, सामने दीवार से लगी घड़ी की ओर उठ जातीं और मैं उठने का उपक्रम-सा करने लगता कि—

"क्यों, आज जल्दी है क्या?" वे प्रूफ की ओर से आँखें उठाकर पूछ लेते।

"नहीं तो!"

और इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि उनके द्वारा स्पष्ट रूप में, इतनी देर तक बैठे रहने का कोई अनुरोध भी नहीं होता था; परन्तु मैं इतना लोभी हो गया था कि सब कुछ समझते हुए भी जमा रहता।

शाम होने को आयी।

इस बीच, कुछ नहीं तो पाँच बार चाय पी डाली थी हम दोनों ने। प्रेस के कर्मचारी मेरे सामने ही काम पर आये थे और सात-आठ घण्टों की खटाई के उपरान्त चले भी गये। तब उन्होंने शान्ति की एक लम्बी साँस ली—"अभी फ़ुरसत मिली है। बहुत देर आप 'बोर' हुए....अब...."

और तभी दरवाजे पर से एक दुबले-पतले तरुण ने झाँकते हुए बड़ा ही वजनी 'नमस्कार' ठोंक दिया।

"आओ भाई, आओ!"

वे महाशय, कुछ इस अन्दाज से अन्दर आकर कान्तजी की ठीक बगल में आ बैठे कि मैं चकित हुए बिना न रहा। मैंने बहकी-बहकी आँखों से देखा—नहीं, घूरा।

आगन्तुक पर नजर पड़ते ही मैंने देखा, 'कान्त' जी बुरी तरह प्रफुल्लित हो उठे और ललककर बोले—"अरे, आओ-आओ!" मैं एक ओर सिमट-सा गया। वे हजरत मुझे ढकेलते हुए-से 'कान्त' जी की बगल में आसीन हो गये थे। शीघ्र ही मैंने अनुभव किया, मेरी उपस्थिति अब अनावश्यक-सी हो गयी है! बचपना ही तो था कि मात्र इसी से मैं कुंठित-सा हो आया अपने आप में ही और जाने के लिये उठ पड़ा।

"अब मैं चलूँगा!"

"अरे, प्रभंजन!" 'कान्त' जी चौंकते हुए-से बोले—"आपसे परिचित हो जाओ, केशर जी। और आप....'चिनगारी'-परिवार के अभिन्न, रामाशीषसिंह 'प्रभंजन'!"

"अमाँ, आप ही हैं!" कहते हुए 'प्रभंजन' ने मेरे दोनों हाथों को पकड़कर झकझोर दिया—"क्या नाम है, आपके मुहल्ले का? फील-खाना! भई खूब, हाथी-वाथी भी पाल रखे हैं अपने या...." प्रभंजन (बाद के अशेष) से मेरा वह परिचय, कभी इतना घनिष्ट रूप ले लेगा कि जैसे हम दोनों ने एक ही उदर से जन्म लिया हो!—क्या कभी कल्पना की जा सकती थी? मेरे हास-रुदन का सम-सहचर अशेष, अब भैया 'कान्त' ही की भाँति, स्वप्न में भी नहीं आ पाता!—स्मृति-प्रवाह कितनी पीड़ामयी करवट ले उठा है और अन्तस् से

घुमड़ता हुआ एक आह अधरों पर फिसलकर रह गया है। समय-चक्र में पड़कर मानव कितना निर्मम, कितना विवश हो जाता है।

भैया 'कान्त' ने मेरे साहित्यकार का निर्माण किया; पर उसे छाँट-तराशकर, निश्चित-आकार दिया अशेष ने। कान्तजी मूलतः उपन्यासकार थे मगर अशेष कवि होते हुए भी साहित्य के विभिन्न अंगों के प्रति जागरुक था। उसकी वह जागरुकता, मुझे आज भी अपनी प्रेरकता के द्वारा पथभ्रान्त नहीं होने देती। वह मेरे उपन्यासों-कहानियों की कड़ी से कड़ी आलोचना करने से कभी नहीं चूकता था। कान्तजी आलोचना और आलोचकों से आजीवन विरक्त रहे। कभी-कभी तो अशेष और उनमें इसी बात पर विरोध भी उठ पड़ता था। ऐसी हालत में मुझे धर्म-संकट का सामना करना पड़ जाता। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि मेरे मन में अशेष और उसके 'प्रहारों' के प्रति कोई आस्था न रह पाती थी उस समय।

भैया ने अपने स्नेह-संपर्क के तीन-चार वर्षों के बीच, याद नहीं पड़ता, कभी मेरी किसी रचना को छपने के पूर्व, उड़ती हुई नज़र से भी देखा हो! बहुत ज़िद करता तो स्नेहभरी (और स्नेह में अतिरञ्जना अवश्यंभावी है!) शाबासी का वरदान मिल जाता—"कुछ सुधारने को हो भी कि ऐसे ही....तुम तो खुद मास्टर हो केशर!" और मुझ जैसा 'बतिया' लेखक, इस बहुमूल्य 'सर्टिफिकेट' पर भला क्यों न फूलकर कुप्पा हो जाता! उनके स्नेह की छत्र-छाया में रहते हुए मैंने कभी भी यह स्वीकार नहीं किया कि मैं जो कुछ लिख देता हूँ, उसमें किसी प्रकार की त्रुटि है या परिमार्जन की आवश्यकता है। इसी थोथे आत्मविश्वास का परिणाम था कि मेरी आरम्भिक रचनायें, शैली, भाषा और भाव में भी त्रुटियों की खान हैं। इसका यह मतलब कदापि न लगाया जाय कि कान्तजी स्वभावतः अहमन्य थे या अपनी त्रुटियों को स्वीकार करने की प्रवृत्ति से

शून्य थे। साहित्य-संसार ने, उनको आरम्भ से ही उपेक्षा की दृष्टि से देखा। उनकी रचनाओं को ही नहीं, उनके नाम तक को जन-जीवन के लिये 'खतरनाक' होने का 'फतवा' दे डाला। दूसरी ओर उनके शत-शत पाठकों के हृदय-कपाट उन्मुक्त होते गये और एक दिन ऐसा भी आया, जब अपने पाठकों की अपूर्व, चमत्कारपूर्ण संख्या के बल पर, वे हिन्दी कथा साहित्य में नक्षत्र बनकर दीप्त हो उठे! उनका कटु-अनुभव ही था, जो उनके आत्मविश्वास का कारण बना और वह उनका आत्मविश्वास ही था, जिसने अपनी त्रुटियों पर दृष्टि न डालने को विवश-सा कर दिया। वे अपने पाठकों को ही अपना सर्वोपरि पारखी मानने के लिये मजबूर किये गये, इस तथ्य को कभी के उनके भयंकर विरोधी भी स्वीकार करने लगे हैं। वे जो कुछ भी लिखते हैं, उसमें त्रुटि भी संभव है!—इस विचार से बचने को वे स्वयं तो सतर्क रहते ही थे; हम बच्चों के लिये भी यह 'आजमूदा नुस्खा' सजेश करते रहते।

उसी दिन की बात है।

"आप अब अपने को थोड़ा कस लें तो...." अशेष कह रहा था—"हिन्दी कथा-साहित्य में युगान्तर प्रस्तुत हो जाय!"

"मारो गोली, तुम्हारा हिन्दी कथा-साहित्य मुझे साहित्यकार मानता ही कहाँ है? मैं तो उन लोगों का लेखक हूँ, जिनके पास तुम्हारे साहित्य को समझने जैसी अक्ल नहीं है और इसे भी न भूलो कि उनकी संख्या कम नहीं है। वे मुझे, मेरे उपन्यासों को प्यार करते हैं, यही क्या कम गर्व का विषय है...." उनका स्वर अत्यन्त गम्भीर हो आया था, कहते-कहते।

"पर...." प्रभञ्जन ने कुछ कहने की कोशिश की थी।

"छोड़ो भी यार, कहाँ का पचड़ा ले बैठे हो। तुम्हारा कथा-साहित्य मुझे अप्रामाणिक साहित्यकार मानता है और विश्वास रखो,

'प्रामाणिक' होना भी नहीं चाहूँगा कभी। सलामत रहे, मेरे पाठकों की संख्या, जिसको देखकर तुम्हारे बड़े-बड़े साहित्यक-महन्तों को रश्क होता है!"

मुझे यह चर्चा कतई पसन्द नहीं आ रही थी। उस समय 'प्रभञ्जन' मुझे दुराग्राही-सा लगने लगा था। और आज, जब सोचता हूँ तो मन में आक्रोश भर उठता है। हिन्दी के एक प्रमुख आलोचक के शब्द बार-बार याद हो आते हैं—'कान्तजी ने हिन्दी कथा-साहित्य को अनगिनत पाठक दिये। उनका वही महत्व हमें मानना होगा, जो ऐयारी-तिलस्मी कथाओं के क्षेत्र या युग में बाबू देवकी नन्दन खत्री का है। आज का हिन्दी कथा साहित्य इतना उन्नत, कभी इतना लोकप्रिय न होता, अगर उसके पाठकों की संख्या-वृद्धि न होती और कान्त जी ने निस्सन्देह इसमें अपूर्व सफलता पायी थी....'

ख़ैर।

बात वहीं समाप्त भी हो गयी।

कभी अपने किसी स्नेही के द्वारा इस सम्बन्ध की चर्चा होने पर कान्तजी जैसे भी होता उसे टाल जाते थे।

इस बीच मैं मूक-श्रोता बन गया था। अब जब प्रभञ्जन और कान्तजी में उन्मुक्तभाव से वार्ता आरम्भ हुई तो मैंने सन्तोष की साँस ली।

उस समय 'चिनगारी' के सम्पादक-मण्डल में, प्रो॰ अर्जुन चौबे काश्यप, चन्द्रशेखर और प्यारेलाल 'अवारा' का भी नाम छपता था। काश्यप जी उस समय मिर्ज़ापुर के जायसवाल कॉलेज में प्रोफेसर थे। चन्द्रशेखर जी और प्रभञ्जन उन्हीं के माध्यम से 'चिनगारी' के सम्पर्क में आये। प्रभञ्जन काश्यप जी का छात्र था। काश्यप जी अपने सहज-स्नेही स्वभाव के कारण, मिर्ज़ापुर की उभरती साहित्यिक-पीढ़ी पर छा-से गये थे। 'चिनगारी' प्रकाशित करने की जब योजना कान्तजी बनाने

लगे तो उनसे सहयोग का अनुरोध किया था। और काश्यप जी ने उनका अनुरोध स्वीकार भी किया। 'चिनगारी' के आरम्भ के तीन-चार अङ्कों के सम्पादन में, उन्होंने परिश्रम भी किया, फलतः वे अङ्क, गम्भीर और साहित्य के सुशुद्ध रंग में डूबे हुए-से प्रस्तुत हुए।

हाँ, तो, रात के ग्यारह बजे के करीब प्रभञ्जन जाने के लिये उठा तो मैं भी उठ पड़ा।

"आप भी चल रहे हैं न! चलिए, कुछ दूर तक हमारा-आपका साथ तो रहेगा ही!" प्रभञ्जन ने मेरे कन्धे पर हाथ रखते हुए कहा। वह उस समय मिर्ज़ापुर से इण्टर करने के उपरान्त बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी में पढ़ने आ गया था।

"अब कब आओगे? अकेला पड़ जाता हूँ यार! मौक़ा निकाल कर ज़रा आ जाया करो न!"

"आता तो हूँ!"

"तुम्हारी सूरत का मुलाहज़ा करने की मेरी कतई इच्छा नहीं रहती जनाब! 'चिनगारी' की मेरी तरह, आकर सर्वेण्टी नहीं करोगे तो काम कैसे चलेगा!"

और हम तीनों खुलकर हँस पड़े।

रास्ते में, आशा से कहीं अधिक प्रभञ्जन को मैंने सरल, स्नेही और अलमस्त पाया। जाने कहाँ-कहाँ की बातें करते हुए हम दोनों ने बाँसफाटक से सोनारपुर तक का रास्ता नाप डाला पैरों से। मैं घर जाने के लिये मुड़ने को हुआ तो—"प्रभञ्जन जी, मुझे भूलेंगे तो नहीं!" अनायास ही मुख से निकल गया।

"अमाँ, कहाँ की बात करते हो!" प्रभञ्जन ने मेरी पीठ पर घूँसा लगाते हुए कहा—"जल्दी ही मालूम हो जायगा तुमको कि गले में ढोल पड़ गयी है, जिसे झकमार कर बजाना ही पड़ेगा! और नहीं तो क्या!"

"बड़ा अभागा हूँ..."

उसने अंग्रेजी में मुझे जोरदार फटकार बतायी, जो फिफ्टी परसेंट मेरी समझ से परे रही।

"अब कब भेंट होगी?" मैंने बड़े आर्टिस्टिक ढंग से उसके फटकारनेवाले मूड को भंग किया।

"अजी, तुमने अलादीन के जादुई-चिराग़ का नाम सुना है न? वैसे ही जहाँ तुमने मुझे याद किया नहीं कि हाज़िर! अरे, हाँ, तुम तो साहूकार आदमी हो यार! छप्पन करोड़ की चौथाई से इस फाँकेमस्तों की गली में किस आसमान से टपक पड़े? मेरा मतलब लेखक कैसे बन गये? अरे, मेरे दोस्त, तुम तो शरमा गये। लेखक होकर, ज़रा धड़ल्ले से, मेरी तरह बक-बक करने की आदत डालना अभी से शुरू कर दो—हाँ!"

"चलूँ तब?"

"अवश्य। पर याद रखो, किसी दिन माबदौलत को बुलवाकर घर के राशन का सफाया तुम्हें करवाना है!"

"अभी ही चलो न!" कहने को तो कह डाला; पर सोचने लगा, कहीं वह 'हाँ' न कर दे! घर पर माँ के द्वारा जो 'स्वागत' होनेवाला था, उसका 'जायका' अकेले में ही ले सकता था न! सौभाग्यवश उसने 'फिर कभी' का वचन देकर विदा ली।

● ●

उसी रात, बड़े उत्साह से 'चिनगारी' के लिये एक कहानी लिख डाली। 'कश्मीर में'। उस समय कश्मीर पर पाकिस्तान के बर्बतापूर्ण आक्रमण और भारतीय-सेना के शौर्य की गूँज चारों ओर गूँज रही थी। मन में अदम्य-उत्साह हिलोरें मार रहा था और यही कारण था कि कहानी जम भी गयी। तड़के ही धुकधुकाता हृदय लिये

कान्तजी के पास पहुँच गया। वे नहा-धोकर अभी-अभी मेज़ के पास आये थे।

"अरे, इतने सबेरे!"

"जी!" मैं संकोच में पड़ गया था। जेब से कहानी निकालकर जल्दी से मेज़पर रख दी और उठकर खड़ा हो गया—"ज़रा जल्दी ही एक जगह काम से जाना था....यह कहानी देख लीजिएगा!" वे मेरी ओर देखकर कुछ पढ़ते-से रहे और मैं मन ही मन सोचे चला जा रहा था—मुझे सचमुच इतने सबेरे नहीं आना चाहिए था। पता नहीं क्या सोचते होंगे अपने मन में।

सहसा ही उन्होंने मेरी ओर से दृष्टि फेर ली और मेरी कहानी को पलटने लगे—"वेरीगुड आइडिया!" लगा कि जैसे अपने आप ही से कहा हो उन्होंने—"पर अब आप जल्दी से बैठ जाइए। आज अपने मेवालाल जी के यहाँ चाय में कुछ लेट होगा। चाय पीना जरूरी है। आइए, चलिए, किसी रेस्ट्राँ में ही...."

"पर मैं तो खाना खाकर आया हूँ!"

"खाना खाकर आये हैं? साढ़े सात बजे आपको खाना कहाँ से मिल जाता है जी!" वे हँस पड़े थे।

मैं चुप।

"झूठ बोलते हैं!"

"मैं सचमुच ही खाना खाकर आया हूँ!"

"अजी, यह खाने का समय है कोई?"

"मैं हमेशा इसी समय खाना खा लेता हूँ!" न चाहते हुए भी सत्य प्रकट होकर ही रहा। मैंने देखा, उनकी हँसी जाने किस ओर तिरोहित हो गयी थी। वे मुझे पुनः अपनी पैनी दृष्टि से परेशान करने लगे थे। उनको क्या मालूम कि मैं इसी समय नित्य खाने-नहाने से निबटकर अपनी 'ड्यूटी' पर डँट जाता हूँ।

"मज़ाक नहीं ?"

"जी !"

"पर चाय तो पीनी ही होगी...."

"आप पीजिए न, मेरी आदत भी नहीं है...." मुश्किल से कह पाया। उसी समय, बाहर गली में चायवाले ने 'गरम चाय पीओ, बहुत दिन जीओ !' की पुकार लगायी। उन्होंने उसे पुकारा। वह आकर दरवाज़े के सामने खड़ा हो गया।

मैं भौंचक्का-सा कभी उनको, कभी चायवाले की ओर देखता हुआ धम्म-से कुर्सीपर बैठ गया। चायवाले ने बिना उनके कहे ही, दो पौवे पुरवे में चाय लाकर मेजपर रख दिया। फिर जाकर दरवाजेपर खड़ा हो गया।

"केशर जी !"

"जी !"

"आपको हो क्या गया है ! चाय का कुल्हड़ उठाइए और ज़रा जायका तो लीजिए। ऐसी बढ़िया चाय किसी रेस्ट्राँ में, आपको कभी न मिली होगी !" और उन्होंने एक कुल्हड़ उठाकर मेरे हाथ में पकड़ा दिया। उनकी चाय समाप्त हो गयी तो चायवाले ने, पीतल के गिलास में चाय लेकर रिक्त कुल्हड़ को पुनः भर दिया।

"बाबू जी, एक्को कलेंडर मिल जात न...."

"कहाँ लगइबा यार ?"

"बाबू जी !" वह हें-हें-हें करने लगा।

"अच्छा-अच्छा, देब पर ए बेरा नाहीं। फिर कभ्भों आके ले जाए....भला !" वे बड़ी स्वाभाविकता, बड़ी आत्मीयता से कहते चले जा रहे थे। मैं आश्चर्यान्वित-सा देखता चला जा रहा था। मन में रह-रहकर यह प्रश्न उठ पड़ता कि क्या मैं, सचमुच कान्तजी के सामने बैठा हूँ ! मेरा कुल्हड़ भी खाली हो चुका था।

"अरे, आप ऐसे ही बैठे हैं ? और लीजिए !"

मैं इनकार में कुछ कहने ही जा रहा था कि तब तक चायवाले ने पुनः मेरे कुल्हड़ को भर दिया। आँखों ही आँखों में उसने पूछा—"और बाबू जी !"

"नहीं यार, ढेर पी के बहुत दिन जीए के थोड़ो हौ हमलोगन के !" और दराज़ में से अपना पर्स निकाल लिया उन्होंने—"केतना भयल तोहार पइसा ?"

चायवाला दरवाज़े पर खड़ा था—"बाबूजी, चार आना !"

पर उस समय उनका पर्स खाली पड़ा था।

बाहर चायवाला—"गरम चाय पीओ, बहुत दिन जीओ !" की पुकार के साथ जैसे चलने का संकेत कर रहा था। क्षण भर, मात्र क्षण भर के लिये मैंने उनके दमकते चेहरे पर परेशानी की झीनी-सी परत पड़ती देखी। मेरी जेब में, संयोगवश कुछ पैसे थे उस समय। मेरा हाथ जेब की ओर उठने को हुआ कि—'केशरजी !' उनके इन दो शब्दों ने मुझे झकझोर कर रख दिया। उन दोनों शब्दों की 'मार' ऐसी थी कि मेरा हाथ काँप-काँपकर रह गया।

"जी, मेरे पास है...." मैं हकलाया, जैसे कोई अपराध करते हुए, रँगे हाथों पकड़ा गया होऊँ !

"मैं जानता हूँ। पर मात्र इतने ही से मेरे मुख पर तारकोल लगा देने का अधिकार किस भकुवे ने आपको दे डाला !" और फिर तुरत ही मुस्करा उठे।

तब तक चायवाले ने पुनः अपनी पेटेंट-पुकार लगायी।

"अरे, यार, तनी सुना त !"

वह लपकता हुआ अन्दर आया।

"देखा भाई, एबेरा अपने पास पइसा त हौ नाहीं !"

"कउनो बात नाहीं बाबूजी ! फेर मिल जाई !" कहता हुआ वह घूमने को हुआ।

"नाहीं, ई तोहार बोहनी क समय हौ न !" वे बड़ी स्वाभाविकता से कहते चले जा रहे थे। क्षण भर रुके-से; फिर तुरत ही उँगली से अँगूठी उतारकर, आश्चर्यचकित खड़े चायवाले की ओर बढ़ा दी—"तब ले, एके ले जा....संझा के आके दे जाये आउर आपन पइसा भी ले लिहे !"

चायवाला विमूढ़।

मुझे रोमांच-सा हो आया।

और वे पूर्ववत् मुस्कराते हुए कहते रहे—"तीस रुपल्ली के अँगूठी से तोहार इमान बहुत महँगा हौ। हौ कि नाहीं !"

"बाबूजी !"

"लेते हो कि नहीं !" उनका स्वर अत्यन्त तीव्र हो आया।

मैंने देखा, चायवाले के काँपते हाथ ने अँगूठी ले लिया और जल्दी से दरवाज़े के बाहर हो रहा वह। मैं उठकर खड़ा हो गया।

"कहाँ ? बैठ जाइए !"

"वह फिर लौटकर नहीं आएगा !"

"तो क्या हुआ ?"

"आपने उस पर इतना विश्वास करके ग़लती की है...."

"नहीं !" वे खुलकर हँस पड़े—"मैं इतनी जल्दी ग़लती करने का आदी नहीं हूँ। आप शान्त होकर बैठ जाइए, वह शाम को आएगा। नहीं भी आना चाहेगा तो मेरा आत्मविश्वास ज़बरदस्ती खींच ले आएगा। समझ गये आप !"

मुझे बैठ जाना पड़ा। मुझे विश्वास था कि अब चायवाले की सूरत दीखने से रही। चार आने के लिये चालीस रुपये की अँगूठी का खून मुझे अशान्त बना रहा था। सच कह रहा हूँ, उस समय मेरे

अशान्त मस्तिष्क में, रह-रह कर गूँज उठने लगा कि कान्तजी पागल तो नहीं हो गये हैं ! विश्वास की ऐसी मिसाल मिलनी मुश्किल है। और वे, जैसे कुछ हुआ ही नहीं हो, इस भाव से मेरी कहानी पढ़ने में लग गये थे।

"बहुत अच्छी है !"

"हूँ !" मैंने जैसे कुछ सुना ही नहीं।

"केशर जी, आप सो रहे हैं क्या ?"

"नहीं तो !"

"फिर क्या सोच रहे हैं ?"

"सोच रहा था, आपको ठग ले गया !"

"कौन, वह चाय वाला !" वे जैसे अँगूठी वाले प्रसङ्ग को भूल ही चुके थे—"अजीब सिड़ी किस्म के आदमी हैं आप भी। अरे भाई, जिस दिन मुझे ठगने की लियाकत उसमें आ जायगी; सच कहता हूँ, लिखना-पढ़ना छोड़-छाड़ कर हाथ में गगरा लटकाए, 'गरम चाय पीओ, बहुत दिन जीओ' की पुकार लगाता हुआ घूमता नज़र आने लगूँगा। और नहीं तो क्या ?" कहते-कहते ही हँस पड़े थे—"और अगर अब भी आपको मेरी बात पर यकीन नहीं आता हो तो फिर शाम को देख लीजिएगा !"

तब तक ऊपर से मेवालाल भी आ गये। उन्होंने भी अँगूठीवाली घटना सुनी तो हैरत में आ गये—"बलिहारी है आपकी बुद्धि पर। अरे, पैसे नहीं थे तो कह देते साला फिर से ले जाता या नहीं तो नीचे ही से आवाज देकर ऊपर से मँगा लेते। टापते रहिए, आपकी तरह बेवकूफ वह नहीं है, जो शाम को अँगूठी देकर अवशी लेने आएगा...."

"अबे, तो क्या मैं बेवकूफ हूँ !"

"और नहीं तो क्या ?"

"देखना शाम को!"

"देखा हुआ है!"

मेवालाल का लताड़ना उस समय मुझे उचित ही लग रहा था। मेरे मन की अशान्ति सन्तोष में तिरने लगी थी।

"हाँ, केशर जी, आप कश्मीर हो आये हैं क्या?"

"नहीं तो!"

"सच?"

"हाँ!"

"तब तो आपकी कल्पना बड़ी दूर तक उड़ान भर लेती है...." अँगूठी-प्रसङ्ग को दूर ठेलकर वे मेरी कहानी की चर्चा करने लगे थे—"आपका भविष्य बहुत ही उज्ज्वल है। आपकी पहली कहानी को प्रकाशित हुए कितने दिन हुए होंगे?"

"साल भर।" मैं भी अँगूठी-प्रसङ्ग को भूलता जा रहा था—"कहानी में कोई त्रुटि हो तो...."

"कुछ नहीं जी, सब ठीक है...."

"नहीं, कुछ तो बतलाइए!" पर मेरे बहुत कहने पर भी वे टालते ही गये। मुझे निराशा भी हो रही थी और मन के किसी कोने में, खुशी भी समायी पड़ रही थी। निराशा इसलिये कि उन्होंने मुझे कुछ सिखलाने-समझाने से इनकार किया और खुशी इसलिये कि मैं क्या सचमुच निर्दोष रूप में कहानी लिख लेता हूँ। अपनी निर्दोषता पर, कान्तजी की 'मुहर' उस समय क्या कम मूल्यवान् थी!

मैं पुनः 'चिनगारी' के सम्पादन, प्रूफ-रीडिङ्ग आदि में व्यस्त कान्तजी के उस कर्मठ-व्यक्तित्व के मन्त्रमुग्ध-अवलोकन में दत्त-चित्त हो गया। एक ओर से प्रकाशनार्थ आयी रचनाओं के ढेर में से सड़ासड़ 'छाँट-छूट' कर रहे थे, दूसरी ओर तुरत ही पत्रोत्तर देने लगते। पत्र लिखते ही लिखते अगर प्रूफ आ गया तो पत्र को वैसे ही

छोड़, प्रूफ देखने में लग जाते। कार्य में दत्तचित्त जिसने भी कान्तजी को देखा होगा, चकित रह गया होगा; ऐसा मेरा विश्वास है।

सम्पादन जैसे दायित्वपूर्ण कार्य को भी वे उसी आसानी, उसी अलमस्ती से किया करते, जैसे पोस्टऑफ़िस का शंटिंगमैन पत्रों को निश्चित खानों में फेंकता चला जाता है!

"कवर बदे आर्ट पेपर घटी भइया!" ट्रेडिलमैन बलदेव ने आकर कहा तो वे प्रूफ देख रहे थे। तुरत ही उधर से निगाह उठाकर बलदेव से, आर्टपेपर का हिसाब-किताब करने में लग गये। फिर प्रूफ पर निगाह जमाये ही, सामने बैठे मेवालाल से, आर्टपेपर का भाव-ताव भी करने लगे।

काम करने का वह ढंग अजीब ही था। मेरी आँखें आश्चर्य से फटी रहतीं और उनको तो मेरे बैठे रहने का जैसे अहसास ही नहीं रह जाता था। पर नहीं, वे किसी ओर से भी अपने को भूलने नहीं देते थे। आँखें, हाथ और दिमाग़ भले ही उलझे हों, मन उनक क्षण भर के लिये भी असतर्क नहीं रह पाता था। तभी तो आर्टपेपर, कम्पोज, मैकप और प्रूफ से मुक्त होते ही—"अजीब तरह से व्यस्त रहना पड़ जाता है भाई! क्या करूँ, 'चिनगारी' ने सब कुछ मुझसे छीन लिया....आप बोर फीलिंग तो नहीं रहने लगे! लीजिए, तब तक यह कहानी ज़रा पढ़ जाइए। भयंकर रूप से लिखते हैं ये महो-दय। ऐसा कोई महीना नहीं जाता, जब आपके यहाँ से दस-पाँच कहानियों का रजिस्टर्ड लिफाफा न आ पहुँचता हो। एक बार उत्सा-हित करने के विचार से, एक कहानी सुधारकर क्या, फिर से लिखकर छाप दी थी। उसी का यह परिणाम है!" और हँस पड़े। जल्दी से कहानी मुझे थमाकर कम्पोजिंग-विभाग का चक्कर लगाने के लिये चले गये।

यह अनजाने ही, मेरे भविष्यत्-सम्पादक की ट्रेनिङ्ग हो रही थी—

क्या मालूम था। मैं भी कभी सम्पादक बन सकता हूँ, स्वप्न में भी नहीं सोच पाता था।

दूकान जाने की सुध उस दिन भी नहीं रही।

शाम को अँगूठी-प्रकरण की परिसमाप्ति देखने की उत्कंठा का शमन कर पाना मेरे लिये असंभव हो गया था। एक बार दूकान पर पहुँच जाने का मतलब होता था, ग्यारह बजे रात तक की क़ैद !

बारह बज गये तो उन्होंने मुझे टोंका—"अरे, आपको आज दूकान जल्दी पहुँचना था न ?"

"हाँ !"

"तो ?"

"नहीं जाऊँगा !"

"ऐसी बात तो ठीक नहीं !" स्वर में समझाने का-सा भाव था—"इस फेर में पड़कर तो दूकान की लुटिया ही डुबो देंगे आप ! अकेले आदमी हैं, मन नहीं लगायेंगे तो नौकरों के भरोसे कहीं व्यवसाय की गाड़ी चलती है ?"

मेरे भावुक मन को ठेस-सी लगी। चेहरा फक्क पड़ गया।

उन्होंने देख लिया—"अरे, आपने तो मेरी बात का दूसरा ही मतलब लगा लिया। यकीन मानिए, आपको मैं अगर कर पाता तो, बनिअउटी से पल्ला छुड़ाकर अपने पास ही कर लेता मगर...."

मेरी धड़कनें तीव्र हो गयीं।

"मगर सोचता हूँ, उधर लगे रहेंगे तो साहुकार बन जायेंगे और इधर आयेंगे तो फिर वही फाँकेमस्ती। सरस्वती और लक्ष्मी की साधना एक साथ होना कभी भी संभव नहीं मेरे भाई !"

मन में हुआ कि उठकर उनके पैरों से लिपट जाऊँ और उनसे बतला दूँ कि लक्ष्मी की पूजा का अधिकारी मैं हूँ भी नहीं। तीस रुपये

महीने पाने वाला एक मज़दूर भर हूँ। किस भ्रम में हैं आप! पर स्वर ओंठों तक आकर भी बाहर नहीं हो पाया।

थोड़ी देर के मौन के बाद वे कहने लगे—"केशर भाई, जीवन-यापन के लिये मुझे कभी हाथ हिलाने की आवश्यकता पड़ी ही नहीं। आराम से खाना और चैन की वंशी बजाना....परन्तु इस ओर आकर देख तो रहे हैं, जिन्दगी कितनी 'मज़ेदार' हो गयी है...." थोड़ा रुककर उन्होंने सिगरेट जलाई और फिर गहरे-गहरे कश लेते रहे। और मैं सोचे जा रहा था, जिस जीवन को मैं स्वर्गीय मानता हूँ, क्या सचमुच वह इतना कटु है!

मेरी ओर बिना देखे ही वे पुनः कहने लगे—"मेरा अपना विचार है, अगर जीवकोपार्जन का कोई मज़बूत साधन हो तभी किसी को साहित्य-सेवा की ओर प्रवृत्त होना चाहिए। मुझे आप आज जिस रूप में देख रहे हैं, अगर घर का इतना सम्पन्न नहीं होता तो क्या कभी संभव था। एक तरह से, यह मेरी दिमागी-ऐयाशी का प्रतिफल है। यह सब कहने का मेरा मतलब यही है कि आप परिवार में अकेले हैं और जीवकोपार्जन का साधन है, दूकान। मैं देख रहा हूँ, दूकान की ओर से आप कटे-कटे रहते हैं। यह कोई अच्छी बात तो है नहीं...."

मेरा मुँह पुनः खुलने को हुआ; पर सफलता नहीं मिल पायी।

बात वहीं रह गयी।

'चिनगारी' से सम्बन्धित वे और-और बातों में लग गये। वातावरण में जो अनायास ही गांभीर्य भर उठा था, वह छँटकर रह गया।

शाम के पाँच बज गये।

प्रेसके कर्मचारी धीरे-धीरे जाने लगे।

मेवालाल के साथ ही चार-पाँच और व्यक्ति भी बड़ी उत्सुकता के

साथ, कान्तजी के आत्म-विश्वास का 'परीक्षाफल' जानने की प्रतीक्षा करने लगे।

"अरे, वह क्या आएगा !" मेवा ने कहा।

"चुप रह वे !" कान्तजी ने उसे कुछ इस तरह से डाँटा कि हम सभी खिलखिलाकर हँस पड़े और ठीक उसी समय हमसभी ने स्तब्ध-भाव से देखा—चायवाले ने आकर धीरे से, अँगौछे के छोर से खोल कर अँगूठी कान्तजी के सामने मेज़पर रख दी। किसी के मुख से एक शब्द भी नहीं फूट पाया।

"आ गइला हो !"

"बाबूजी !" उसका स्वर गद्‌गद् हो आया था।

कान्तजी ने चवन्नी निकालकर उसे दी और वह बिना एक शब्द बोले दरवाज़े के बाहर हो गया।

"देख लिया आपलोगों ने !"

सभी के चेहरे पर उस चायवाले के आगमन ने तमाचा जड़ दिया था।

"अच्छा तो, आइए केशरजी !" वे उठते हुए बोले—"आपको थोड़ा घुमा ले आऊँ। दिन भर नहीं गये तो अब शाम को भी क्या जायेंगे दूकान पर...." और मैं उनके साथ हो लिया।........

और आज—

जाने क्यों, नज़ीर भाई की यह लाइन भैया कान्त की हूकभरी स्मृति के साथ बार-बार याद हो आती है—

वह डाल क्या कि जिसपर बैठे न कोई पंछी !........

जो घनीभूत पीड़ा थी मस्तक में स्मृति-सी छाई

मेरी सर्वप्रथम प्रकाशित कहानी है, 'कफन के लिये'। जो आदरणीय बेढब बनारसी (कृष्णदेव प्रसाद गौड़) के सम्पादन में, संसार प्रेस काशी से निकलनेवाली कहानी-मासिक 'आँधी' में प्रकाशित हुई। 'आँधी' में छपने के साथ ही मेरी पाँच-सात कहानियाँ, 'आज', साप्ताहिक 'संसार', 'आर्यावर्त' आदि पत्रों में, संयोगवश प्रकाशित हो गयीं। वे 'आँधी' वाली कहानी से पहले ही लिखी और भेजी जा चुकी थीं। इसके पूर्व मेरी पचासों रचनायें, विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकों के वेस्ट-पेपर-बास्केट की 'शोभा' बन चुकी थीं। लिखता था और भेज देता था। बिना इस आशा के साथ कि वे प्रकाशित होंगी और लेखक होने का प्रमाण मिल जायगा मुझे। इस नाते, बेढबजी को मैं अपना सर्वप्रथम गुरु मानता हूँ। उनकी उस कृपा (जो अनजाने की गयी थी) को मैं आजीवन न भूल पाऊँगा। परन्तु वह संयोग तो, मेरे लिये वरदान बनकर आया था! मुझे खूब याद है, बेढबजी प्रायः नित्य मेरी दूकान के सामने से, संसार प्रेस जाया करते थे और मैं उन्हें कितनी लोभी, कितनी श्रद्धामयी दृष्टि लिये निहारता रह जाता था। उनके द्वारा भेजे गये उत्साह-वर्द्धक पत्रों को पाकर मैं नाच-नाच जाता था मगर फिर तुरत

ही जैसे कोई कलेजे में छुरी घुसेड़ देता। तिलमिलाकर रह जाता। कितनी भयंकर ट्रेजडी थी वह। पत्रों में उत्साह दिलानेवाले बेढबजी को अपने सामने से गुजरता देखता था पर मेरी स्थिति ऐसी थी कि नमस्कार करने की भी हिम्मत न होती थी। मन मे होता था, यह जानकर कि ज्वालाप्रसाद 'केशर' इतना मामूली किस्म का आदमी है, बेढबजी घृणा से भर उठेंगे और तब अपनी पत्रिका में मेरी कोई रचना छापने का इरादा तक न करेंगे।

ऐसे ही दम-घोंट दौर में, कान्तजी के विमल स्नेह और अपनत्व का सम्बल मिला था। 'खुदा जब देता है तो छप्पर फाड़कर देता है'.... सोच-सोचकर अपने आप में ही झूम उठता। दूकान के काम में मन ही नहीं लग पाता था। महीने में पाँच-सात दिन अपसेंट रहने का नतीजा यह हुआ कि ३०) के स्थान पर बीस ही बाईस रुपये मिले। साथ ही मामा का यह व्यंग्यभरा सजेशन भी—काम में मन न लगत होय त घरवैं बइठ के अराम करा भइया।

स्वाभिमानी मैं बचपन का ही रहा हूँ।

मामा का व्यंग्य-बाण मर्मस्थल को पार तो कर गया पर मुख से एक शब्द भी न फूट सका। सुबह घर से तो चला था ठीक टाइम से मगर दूकान पर पहुँचा था ग्यारह बजे। अपने मामाजी का दिमाग़ बुरी तरह गरम हो चुका था। घर से चलता था तो निश्चय कर लेता था कि सीधे दूकान जाऊँगा। पर जब रास्ते में बम्बई प्रिंटिंग कॉटेज दीख पड़ता, कान्तजी की स्नेहिल-मूर्ति दीख जाती और तब अपने को रोक पाना असंभव हो उठता।

'आप आ गये....आइए, आइए, केशरजी महाराज!' जैसे स्वर्गिक वातावरण और 'छटाँक हरदी अउर आध पाव धनियाँ त दिहे!' की तुलना क्या कभी संभव है? पर मैं कान्तजी के पास बैठा-बैठा तुलना करने की कोशिश से बाज नहीं आता था!

तनतोड़-परिश्रम, निराशा और परिस्थितियों की विकटता से 'लोहा लेने' का आदी मेरा जीवन, एक ऐसे मोड़ पर आ गया था, जिसे पार करते ही, मेरे स्वप्न-लोक का मञ्जुल-संसार, मुझे....मुझे....

नहीं। मैं तो भावुकता की लहरों में बहता चला जा रहा हूँ।

मुझे क्षमा किया जाय। आज, जब अपनी पूर्व-स्मृतियों को कुरेदने बैठा हूँ तो न चाहते हुए भी मेरा 'वर्तमान' अपने 'भूत' में डूब-डूब जाता है और यह अस्वाभाविक भी तो नहीं है।

● ●

परिचय के तीन-चार महीने कैसे बीत गये, पता ही न चला।

'पपिहरा' का 'चिनगारी' में धारावाहिक रूप में प्रकाशन शुरू होनेवाला था। बीच में, कान्तजी के समक्ष, एक के बाद एक ऐसी विकट परिस्थितियाँ आती गयीं, जिनसे रह-रहकर 'चिनगारी' का अस्तित्व ही लोप होता दीखने लगता।

जिन लोगों ने 'चिनगारी' के प्रकाशन में, तन-मन-धन से योग देने का वचन दिया था; उन्होंने जब देखा कि पत्रिका निकालना और हाथी पालना बराबर है तो अपने दिए हुए वचन से मुख मोड़ने में ही कल्याण समझा और धीरे-धीरे परे हट गये।

काश्यपजी और चन्द्रशेखरजी ने, कशवाहा 'कान्त' जैसे अप्रामाणिक लेखक के साथ सम्पादकों में अपना नाम देना अप्रतिष्ठा समझी। तीसरे या चौथे ही अंक से, दोनों सज्जनों ने अपने को 'चिनगारी' से पृथक् कर लिया। रह गये केवल प्यारेलाल 'आवारा'। आवाराजी से मेरा कोई परिचय नहीं था। उनके दो-चार उपन्यास मैंने अवश्य पढ़ रखे थे। मुझे जहाँ तक मालूम हो पाया था, उसके अनुसार, 'आवारा' जी और कान्तजी में भी कोई मतभेद हो सकता है, सोचा ही नहीं जा सकता था।

परन्तु एक दिन—

मैं आया तो कान्तजी 'पपिहरा' लिखने में मशगूल थे। मैंने धीरे से नमस्कार किया मगर उनका ध्यान भंग नहीं हो पाया। थोड़ा और आगे बढ़कर देखा तो चमककर रह गया। 'पपिहरा' का दूसरा या तीसरा परिच्छेद चल रहा था। वे अपनी मोटी फाउण्टेनपेन से लिखते चले जा रहे थे। मैं चुपचाप कुर्सी पर बैठ गया।

आँखें तेज़ी से भाग रही कलम की ओर अँटकी हुई थीं और मन में रह-रहकर यह प्रश्न उठ पड़ता—क्या उपन्यास इतनी तीव्र गति से लिखा जा सकता है?

करीब एक घंटे में उन्होंने पाँच-सात पृष्ठ रंग डाले और लिखे पृष्ठों को एक ओर खिसकाते हुए—"क्या देख रहे हैं, इतना घूर-घूरकर जनाब!" कुछ इस अन्दाज़ से कहा कि मैं सकते में रह गया। मैंने देखा, सदैव जिन आँखों में विनोद की अजीब-सी चमक रहती थी, जिन अधरों पर मुस्कान की परतें पड़ी रहती थीं—वह सब कुछ नहीं था। उस दिन पहली बार मैंने उनके व्यक्तित्व का गांभीर्य भी देखा।

"आपकी तबीयत ठीक नहीं क्या?" मुश्किल से पूछ पाया।

"क्यों, बीमार लग रहा हूँ...." वे मुस्कराये तो सही पर वह मुस्कान इतनी मरी हुई-सी थी कि उसे मुस्कान कहना, मुस्कान का मखौल उड़ाना ही कहा जाय।

"बहुत सुस्त नज़र आ रहे हैं!"

"हाँ!"

"क्या बात है?"

"बात?" उन्होंने जैसे अपने से ही प्रश्न किया हो—"बात हो भी सकती है? हाँ, 'पपिहरा' आपने देखा, कैसा लग रहा है?" फिर

अपने ही कहने भी लगे—"अच्छा तो लगा ही होगा। हाँ, आप 'आवारा' को जानते हैं न ?"

"जी !"

"काश्यपजी और चन्द्रशेखर पाण्डेय ने 'चिनगारी' को सहयोग देने में अपना अपमान समझा और अलग हो गये। 'आवारा' मेरा अपना था, एकदम अपना....मगर चालू अंक से वह भी अलग हो रहा है 'चिनगारी' से। सब कहा करते हैं, आदमी रूप में मैं अच्छा हूँ; पर मेरी यही अच्छाई, कुछ बन्धुओं को बुरी लगने लगती है, जाने क्यों ? ऐसे लोगों में अब प्यारेलाल का नाम भी जुट रहा है। इस प्यारे को मैंने बहुत प्यार किया था केशरजी, पर गरदूद धोखा दे गया। 'चिनगारी' निकालने की योजना, ऐसे ही मज़ाक में बनी थी। सभी ने, बाकायदा वचन दे डाला था कि मुझे सहयोग मिलने में कभी कोई शिकायत का मौक़ा न आ पायेगा। मैंने भी सोचा, ठीक है, शग़ल ही रहेगा। नहीं तो, बचपन से आराम की, बेपरवाही की, अलमस्त ज़िन्दगी का आदी मैं—कभी हिम्मत कर पाता! काश्यपजी गये, चन्द्रशेखर गये, मेवालाल गये और अब प्यारेलाल 'आवारा' भी गये। बच गया मैं !—मैंने तो अब निश्चय कर लिया है, 'चिनगारी' को अपने खून से सींचूँगा, उसे मौत के हवाले न करूँगा। जिन बन्धुओं ने, यह सोचकर अपना हाथ खींचा है कि मेरे किये कुछ न हो सकेगा....वे भी देखेंगे !"

"पर 'आवारा' जी...."

"मारिए गोली !" स्वर में मन की तिक्तता स्पष्ट हो आयी थी—"चिनगारी को मैं कभी मरने नहीं दूँगा। इतना विश्वास रखें !" और वे चुप हो रहे। देर तक चुप ही रहे। अपने-आप में डूबे हुए कुशवाहा 'कान्त' को देखने का मौक़ा बहुत कम लोगों को मिला होगा मगर जिनको मिला है, वे इससे इनकार शायद न कर

सकें कि वे अपने में डूबकर एक 'सजीव-स्टैच्यू'-से प्रतीत होते थे। काश्यप जी और चन्द्रशेखर जी के विरोध को उन्होंने बड़ी शान्ति से स्वीकार कर लिया था; पर प्यारेलाल 'आवारा' ने अलग होकर उन्हें विचलित कर दिया था। उस समय तो, मुझे मालूम न हो पाया कि बात क्या है? पर बाद में, जब धीरे-धीरे सारी बातें स्पष्ट हुईं तो सच कहता हूँ, 'आवारा' अजीब किस्म का आदमी लगा था। कभी बात चल पड़ती तो वे 'आवारा' को इस बुरी तरह लताड़ना शुरू कर देते कि सुनने वाले हैरत में पड़ जाते। मैंने शुद्ध मिर्ज़ापुरी गालियों में उनके मुख से 'प्यारेलाल-पुराण' सुना है और यह भी देखा है कि उसके तनिक-से कष्ट का समाचार सुनकर उनकी आँखें गीली हो उठी हैं। उस समय से लेकर, जब तक वे रहे, मैंने आवारा को उनके विरोधी रूप में ही देखा; मगर वह विरोध ऐसा था कि जैसे किसी ने शौकिया भंग का गोला चढ़ा लिया हो।

उन्होंने जिसे एक बार प्यार किया, उसे कभी भी, किसी भी हालत में घृणा नहीं दी।

प्रसंग छिड़ चुका था सो उन्होंने 'चिनगारी' का पूरा इतिहास सुना डाला। चार ही पाँच अंकों में, 'चिनगारी' के उदर में दो-तीन हजार रुपये स्वाहा हो चुके थे। योजना बनाते समय लोगों ने सोचा था, 'चिनगारी' के आउट होते ही रुपये की बरसात शुरू हो जायगी। सभी ने 'हिस्सा बँटाने' की हामी भी भर दी थी। परन्तु आये तो एक पैसे नहीं और स्वाहा हो गये हजारों!—यह देखते ही सभी 'हिस्सेदारों' ने अपनी हिस्सेदारी से तौबा कर लेने में ही कल्याण समझा! सारा बोझ (घाटे का) कान्त जी को ही वहन करना पड़ा।

"तब?"

"तब क्या, 'चिनगारी' निकलेगी। मैंने उसे अपना खून देने का निश्चय कर लिया है और उसने मुझे सफलता। देखना है, इस दौर में मैं पीछे हटता हूँ कि 'चिनगारी'!"

"पर इतना घाटा!"

"अजी, वह सब पूरा होता रहेगा!" मैंने चौंककर देखा, उनके स्वर में क्षणभर पूर्व की गंभीरता का पता न था, वे स्वाभाविक रूप में मुस्करा रहे थे—"चिनगारी में 'पपिहरा' छपने की खबर से ही ग्राहक-संख्या में भयंकर वृद्धि होने लगी है...."

"अच्छा!"

"हाँ!" एक लम्बी साँस के साथ उन्होंने कहा—"आप देखेंगे, मेरी 'चिनगारी' एक दिन अपने पैरों पर खड़ी हो जायगी। आज जो उसकी ओर हिकारतभरी नज़र डाल रहे हैं, वे तब उसकी चमक देख, ईर्ष्या से जल मरेंगे...." और वे देर तक 'चिनगारी' से सम्बन्धित दुनिया भर की बातें बतलाते रहे।

अपनी 'चिनगारी' के भविष्य के लिये, उनके हृदय में आशाओं नहीं, विश्वासों का ज्वार-सा उमड़ा पड़ता था।

उस समय, 'चिनगारी' के सम्बन्ध में आशाओं का जो रेखा-चित्र उन्होंने मेरे सामने खींचा था, वह मुझ अबोध के लिये बहुतांश में 'समझ के परे की चीज़' थी। परन्तु इसे भूला नहीं हूँ कि सुन-सुनकर मन में उल्लास का बाँध टूटा पड़ रहा था।

आज—

कल्पना ने स्मृति को स्पर्श किया है तो सचमुच चकित हो उठा हूँ। आराम और निश्चिन्तता का जीवन बितानेवाला एक आदमी, क्या कभी इतनी जिम्मेदारियाँ सम्हाल सकता है? मिर्ज़ापुर में किसी अच्छे प्रेस का अभाव उस समय तो था ही, आज भी है सम्भवतः। मिर्ज़ापुर जैसा साहित्यिक-गढ़, इस बीसवीं शती में भी इतना पिछड़ा हुआ

है, देखकर आश्चर्य भी होता है और दुःख भी। हाँ तो, विवश होकर उन्हें 'चिनगारी' को छपाने के निमित्त हर माह के पन्द्रह-बीस दिन बनारस रहना पड़ जाता था। रात-दिन एक करके अंक छपवाते, फिर भागकर मिर्ज़ापुर पहुँच जाते। वहाँ पर भी, व्यवस्था सम्बन्धी खींचियों पत्र उनका इन्तज़ार किया करते। 'चिनगारी' की पैकिंग, पोस्टिंग आदि कामों में भी अक्सर उन्हें पिसना पड़ जाता था। अंक के पोस्ट होते ही, आगामी-अंक के लिये पुनः बनारस पहुँच जाते।

'चिनगारी' ने उनसे घर-द्वार, बाल-बच्चों, मित्रों के मोह को छीन-सा लिया था।

सहसा चौंककर मैंने देखा—

एक फटीचर-सा दीखनेवाला आदमी आकर मेरे पास ही खड़ा हो गया था। पहली नज़र में वह मुझे तनिक भी प्रभावित नहीं कर पाया। कान्तजी उसे, बड़ी ही तन्मयता से, 'चिनगारी' के एजेंटों के सम्बन्ध में कुछ समझा रहे थे और मैं सोचे चला जा रहा था, आखिर यह है कौन?

वह था के० एन० सिंह। उस समय कान्तजी का निजी-सचिव और 'चिनगारी' का मैनेजर! मैं यह नाम सुन चुका था। 'उड़ते-उड़ते' में चमगादड़ उपनाम से इन महोदय की अक्सर ही खबर लेते रहते थे वे।

"आप ही केशरजी हैं!"

"और आप शायद के० एन० सिंह हैं!"

"जी!"

"बस, हो गया न परिचय!" कान्तजी तभी बोल उठे—"अब आप यहाँ से चलते-फिरते नज़र आइए। आज शाम तक कहीं से भी दो रीम आर्टपेपर का इन्तजाम तुम्हें करना ही है...." के० एन० फिर रुक नहीं पाया। उसके सम्बन्ध में मेरी जिज्ञासा बढ़ी।

"के० एन० का मतलब ?"

"केदार नाथ !"

"रहते कहाँ हैं ?"

"मिर्ज़ापुर ही का है। अपने पास रखकर इस व्यक्ति की भागती हुई जिन्दगी को स्थिरता-सी दे दी है मैंने। परन्तु केदारजी, इस बेईमान दुनिया पर जाने क्यों विश्वास नहीं हो पाता मुझे। मैंने अब तक जिसे सहारा दिया, उसने धोखा दिया और जिसे प्यार किया, उसने मौक़ा मिलते ही घृणा के गड्ढे में ढकेल दिया। पता नहीं, यह के० एन० भी...." उनका स्वर गम्भीर हो गया था। मेरे छोटे से दिमाग़ में उनकी वे बड़ी-बड़ी बातें अँट नहीं पा रही थीं।

सन् ४८ से लेकर ५१ तक—चार वर्षों की अल्प अवधि में मैंने भैया कान्त के व्यक्तित्व के ऐसे पहलू देखे हैं, जो सच कहता हूँ, औपन्यासिक-से प्रतीत होते हैं। उनका विचार था, लेखक को सदैव जन-साधारण से—जीवन के हर क्षेत्र में ऊँचा रहना चाहिए। अगर उसमें जन-साधारण की विशेषताएँ, उसी रूप में आ गयीं तो यह उसके 'कलाकार' का अपमान है। वे साहित्यिक के नाते चाहे जो रहे हों, (मैं इसे लिखने का अधिकारी भी नहीं हूँ) पर एक व्यक्ति के नाते, एक मानव के नाते असाधारण थे। ऐसे असाधारण कि इस प्रपंची-दुनिया में वैसी मिसाल खोजने की आवश्यकता पड़े। जन-साधारण से अपने को ऊँचा उठाए रखने की भावना के कारण उन्हें पग-पग पर धोखा खाने को विवश होना पड़ा। अन्त में अपने बलिदान से, उस भावना की कीमत चुकाने में भी वे पीछे नहीं रहे।

उनके व्यक्तित्व के 'शब्द-कोश' में गर्व, वर्गवैषम्य, ईर्ष्या और किसी का अहित देखनेवाली कुत्सित भावना को कभी भी स्थान नहीं मिला। पर यह दुनिया ऐसों के लिये हमेशा 'खूनी' रही है। भैया कान्त के निधन के उपरान्त, मर्माहत अशेष की इस पंक्ति—

'दुनिया है बेदर्द कि इसकी दुनिया बसी कटार पर
यहाँ कमल का फूल पकाया जाता है अंगार पर....'

का मर्म वे ही छू पायेंगे, जिसने कान्तजी या उनके ही जैसे किसी 'अच्छे' को देखा होगा, समझा होगा। मौत को गले लगाने-वाला वह मर्मघाती-मंजर देखा होगा!

● ●

समय तेज़ी से बीतता जा रहा था और मैं उतनी ही तेज़ी से अपनी वर्तमान दुनिया से 'आख़िरी-सलाम' कर लेने को व्याकुल होता जा रहा था। भैया कान्त के स्नेह का बड़ा ही मज़बूत सहारा मिल गया था न। प्रायः नित्य एक कहानी की आइडिया दिमाग़ में दौड़-धूप मचाती और महीने में चार-पाँच रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित भी हो जातीं। नये लेखकों को पारिश्रमिक देने का रिवाज़ अधिकांश पत्र-पत्रिकाओं में नहीं था। मगर इसकी परवाह किसे थी!

भैया देखते और मुस्कराकर रह जाते।

मैं झेंप जाता।

"क्या बात है भाई! धुआँधार लिखते चले जा रहे हैं...." वे मेरे कन्धे पर अपना हाथ रख देते और—"सच कहता हूँ, इतनी कहानियाँ तो मैंने भी नहीं लिखी....एक बात बतला दूँ आपको। कहानी में इतना हाथ माँज लेने के उपरान्त अगर कभी उपन्यास की ओर पिल पड़ेंगे तो....तो...."

"तो?" मेरे ओंठों तक आकर भी जैसे वापस लौट गया।

पर उन्होंने सुन ही लिया, मेरी आँखों में अंकित हो गये उस 'तो' को और खुलकर हँसते हुए बोले—"तो....बस, तो!"

कुछ देर बाद।

"मैं उपन्यास लिख सकता हूँ क्या?"

वे चौंके-से—"अरे, क्यों नहीं!"

"लिखूँ ?"

"अवश्य।" वे थोड़ा गम्भीर हो आये—"मगर कहानियों की तरह झपाटेबाजी-शैली में नहीं। आप शरणार्थियों के प्रति बड़े इण्ट्रेस्टेड लगते हैं अपनी कहानियों में। क्यों नहीं उपन्यास के लिये कथानक का आधार भी उन्हीं को रखिए। विषय आपके मन का है इसलिये उपन्यास का कैनवास ठीक करने में कोई खास दिक्कत न होगी...."

४७-४८ में देश के बँटवारे में हुए भयंकर नरमेध, अत्याचारों को लेकर मैंने पचीसों कहानियाँ लिख डाली थीं। उस समय के कहानी-साहित्य पर शरणार्थी-समस्या बुरी तरह छा भी तो गयी थी।

"केशरजी !" थोड़ा रुककर वे बोल उठे।

"जी !"

"आपकी शरणार्थियों पर लिखी कहानियों में मैंने कहीं-कहीं साम्प्रदायिक-मनोवृत्ति का समर्थन-सा पाया है। आप कभी आर० एस० एस० में भी रहे हैं क्या ?" मुझे उनके स्नेह-सूत्र में आबद्ध हुए महीनों हो रहे थे; पर उस दिन पहली ही बार वे मुझसे इस किस्म की बात कर रहे थे। 'इस किस्म' से मतलब, मेरी साहित्यिक गति-विधि को लेकर। मन में खुशी सम्हाले नहीं सम्हल रही थी। मेरे मामा, जिनकी दूकान पर मैं काम करता था, उस समय राष्ट्रीय-स्वयं सेवक-संघ के भयंकर समर्थक थे। अब भी हैं। मैं विचारों से कभी भी साम्प्रदायिकतावादी नहीं रहा। दूकान पर रहते हुए भी, लाख प्रयत्न के बावजूद, मामा जी मुझे संघ की शाखा में नहीं ले जा सके। मेरे अपरिपक्व-मस्तिष्क में, पाकिस्तानी-अत्याचारों से आक्रान्त शरणार्थियों को देखकर करुणा का ज्वार उमड़ आता था और कभी कभी मेरी क़लम बहक कर रह जाती थी। अत्याचारियों से प्रतिशोध लेने की

भावना को सम्हाल पाना कठिन हो जाता। मेरी ही क्या, हिन्दुस्तान की ९५ परसेण्ट हिन्दू-जनता प्रतिशोधी-भावनाओं में भर उठी थी।

साम्प्रदायिकता की बलिवेदी पर राष्ट्रपिता का बलिदान हो चुका था और उनके हृदय की रक्त-धार में सारा प्रतिशोधी-उन्माद बह चुका था।

भैया कान्त ने अपनी उसी बहक का संकेत पाकर, मुझे खूब याद है, शर्म से पानी-पानी हो गया था।

वे तुरत ही बोल उठे—"वह तो मैंने ऐसे ही कह दिया था। वातावरण ही ऐसा है, आप करते भी क्या ? फिर मैंने गांधी-हत्याकांड पर लिखी आपकी कहानी भी तो पढ़ी है। मेरा मतलब यह था कि उपन्यास लिखते समय अपने को भावुकता में बहने न दीजिएगा...."

वह पहली और अन्तिम सीख थी, जो मुझे अपने निर्माता से मिली थी।

मैं भी उपन्यास लिख सकता हूँ!

शाबाशी मिली थी, प्रेरणा मिली थी और मिला था एक ऐसा मार्ग-निर्देश, जिसने मेरे जीवन-क्रम को ही बदल कर रख दिया।

और दूकान के उस घुँटनमय-वातावरण में मेरे प्रथमउपन्यास 'चिताएँ' की नींव पड़कर ही रही।

● ●

एक दिन—

मैं, अशेष (उस समय का प्रभञ्जन) और कान्तजी बैठे 'चिनगारी' के दीपावली अंक की तैयारियों में लगे थे। काश्यपजी, चन्द्रशेखर और प्यारेलाल 'आवारा' के अलग हो जाने के बाद भी अशेष 'चिनगारी' से अपने को अलग नहीं रख पाया था।

'चिनगारी' के सम्पादन में वह आजीवन सक्रिय भाग लेता रहा।

दीपावली-विशेषांक से, भैया 'कान्त' सह-सम्पादक में अशेष का नाम भी देनेवाले थे। मैं उनके इस निर्णय का समर्थक था। परन्तु अशेष को जाने क्यों, एतराज हो रहा था।

"नाम-वाम रहने दीजिए, काम तो मैं करता ही हूँ!"

"नहीं, जी!"

"पर मेरे अपने विचार में, नामों के इस 'चेंजीकरण' से 'चिनगारी' के पाठकों पर कोई अच्छा प्रभाव न पड़ता होगा। आप...."

"ठीक है भाई! मुझ जैसे अप्रामाणिक और बदनाम की 'चिनगारी' में अपना नाम देने में सम्भवतः तुम्हारी इंसल्ट होने की आशंका है। मेरे कारण से तुम्हारा किसी प्रकार का अहित हो, यह मेरे लिये कभी सह्य नहीं होगा प्रभंजन!"

उनके स्वर में इतनी गम्भीरता थी कि प्रभंजन घबरा गया—"आप यह क्या बकने लगे....अरे, महाराज, मैंने तो यह सब कभी सोचा ही न था...."

"पर मुझे तो सोच ही लेना था भाई!"

"मेरे नाम ही क्या, अगर कभी 'चिनगारी' को, आपको मेरी जान की आवश्यकता आ पड़े तो आप देखेंगे, प्रभंजन पीछे क़दम नहीं रखेगा...." मैं आज भी, भावुकता में सुर्ख हो गए अशेष के मुख को, बिल्कुल उसी रूप में देख रहा हूँ।

भैया 'कान्त' ने उसकी ओर गौर से देखा और मुस्करा उठे—"अजीब पागल हो। तुम्हारा नाम ही नहीं, हो भी प्रभंजन के न्राचा!"

"नहीं, अब से ऐसी छू लेने वाली बातें आप मुझसे न किया करें!" उसका स्वर बुरी तरह काँपे जा रहा था।

"अच्छा-अच्छा! केशर जी, अब कवि जी के लिये, जरा स्पेशल

जलपान की व्यवस्था होगी आवश्यक हो गयी है। हाँ तो, प्रभंजन साहब, आपके लिये...."

"एक गिलास सुशुद्ध जल!" अशेष ने उनकी बात को बीच ही में लोक लिया और कुछ ऐसे ढंग से मुख बनाया कि हम तीनों ही, अपने ही ठहाकों में डूब गये।

"केएनवाँ नहीं आया है क्या?"

"आया है। अर्जीब जनानी किस्म की आदत पड़ती जा रही है उसकी यार!" कान्त जी पुनः अपनी पेटेंट अलमस्ती के मूड में आ गये थे—"सरवा कहत रहा कि ओकरे सार क सार, एक ठे आर्टिस्ट आयल बाय...."

"आर्टिस्ट!"

"हाँ, यार!" वे कहते रहे—"कोई लड़का है, ब्रह्मदेव नाम का, बिहारी। अब हजरते आर्टिस्ट कल आयें तो देखा भी जाय!"

"केएनवाँ के साले का साला है वह लड़का?"

"कहता तो था।"

अशेष का फोर्थ इयर था शायद। परीक्षा सिर पर आ गयी थी, इसलिये थोड़ी ही देर बाद, नह हमसे विदा लेकर यूनिवर्सिटी चला गया। मेरी दूकान उस दिन बन्द था। मैं कम्पलीट फ़ुरसत में था। दीपावली-विशेषांक, खूब सज-धज कर निकलनेवाला था। अब तक कवर पर, होटोग्राफ या इधर-उधर से जो भी प्राप्त हो गया वही ब्लाक छप जाया करता था। विशेषांक के लिये कवर शानदार होना जरूरी था।

प्रेस की भी उस दिन कोई छुट्टी थी।

'चिनगारी की आधन-नाग, आठ-नौ महीने इस बुरी तरह तूफानों के बीच पड़ी अब हूँगा, तब लगो की स्थिति में जा पड़ी कि मेरा मानसिक-संतुलन भी लड़खड़ा उठा था।' उन्होंने

बतलाया—मगर अब वह तेज़ी से उन तूफानों को पीछे छोड़ती जा रही है। यह विश्वास सहज हो चला है कि कुछ ही दिनों में अपने पैरों पर खड़ी हो जायगी....

उनके लोकप्रिय नाम ने अपना 'असर' दिखलाना शुरू कर दिया था।

परिवार में बड़े होने पर भी वे पारिवारिक-हलचलों से अपने को सर्वथा मुक्त रखते आये थे। आरंभ से ही। और अब तो 'चिनगारी' का एक 'बहाना' ही मिल गया था। पारिवारिक-छकड़े की 'कोचवानी', अपने छोटे भाई जगन्नाथप्रसाद कुशवाहा को सौंपकर वे निश्चिन्त-से हो गये थे।

बात चल पड़ी थी, तो कहने लगे—"जगन का मन भी उसमें रमा रहता है। संतोष की बात है कि वह मेरी तरह कलाकार नहीं हुआ। नहीं तो, महीने के बीस दिन 'चिनगारी' के चक्कर में क्या बनारस में इस प्रकार पड़ा रहता...."

जगन्नाथप्रसाद (आज के हमारे जयन्त भाई) के सम्बन्ध में मेरी उत्सुकता क्रमशः बढ़ती जा रही थी—"जगनजी को भी क्या लिखने-लिखने की रुचि है?"

"नहीं जी, वह पूरा व्यापारी आदमी है। व्यापार और कला की दुश्मनी तो जग प्रसिद्ध है ही। दुर्भाग्यवश अगर वह भी लेखक बन जाता मेरी तरह तो हो गया था परिवार का बेड़ा पार!" और वे हँस पड़े थे—"हाँ, एक बात अवश्य है। आप तो व्यापारी भी हैं और लेखक भी!"

उस समय ऐसा अनुभव हुआ, जैसे उनके इस रिमार्क में व्यंग्य की चाशनी हो—मन में आया, कह दूँ कि उसे 'व्यापार' नहीं, विवशता कहिए; पर नहीं ही कह पाया।

दीपावली-अंक में प्रकाशनार्थ चनपटिया, चम्पारन के श्री

विन्ध्याचल प्रसाद गुप्त की पहली बार वह कहानी आयी थी। जिसे उन्होंने श्रीरमेशचन्द्र झा के कहने पर भेजा था। मुझे खूब याद है, मैंने ही उसे पहले खोला था। भैया को देने लगा तो बोले—"पढ़ जाइए और बतलाइए कैसी है?"

कहानी पसन्द आई थी मुझे।

"कैसी लगी?"

"अच्छी है!"

"क्यों?"

मुझसे सहसा कुछ उत्तर देते नहीं बन पड़ा। मुश्किल से उन्होंने मुझसे 'कहानी क्यों अच्छी लगी?' की व्याख्या करवायी और बोले—"आपको अपने विचार स्पष्ट रूपमें व्यक्त करने की आदत डालनी चाहिए। इसे न भूलिए कि अब आप खाली लेखक ही नहीं, 'चिनगारी' के सहयोगी सम्पादक भी हैं!"

सुनकर मन में रोमांच-सा भर आया—"मैं....सम्पादक...."

"और नहीं तो क्या?"

"पर मैं तो अभी बच्चा हूँ!"

उनकी देर तक गूँजती रहनेवाली मधुर खिल-खिल वातावरण में थिरकती-सी रही। सच कहता हूँ, उस समय मैं अपने को हवा में तिरता हुआ महसूस करने लगा था। दस वर्ष बीत रहे हैं; पर भैया के स्वर्गिक-सम्पर्क के वे क्षण क्या कभी भूल पायेंगे। मैदानों में उपेक्षित-सी उगी घास को अगर दैवयोग से क्षणभर के लिये केशर की खुशबू और रंग मिल जाय तो क्या घास उस क्षण को भूल सकेगी कभी? नहीं न!

तभी देखा, के० एन० के साथ पन्द्रह-सोलह का एक सुकुमार पर चञ्चल लड़का आकर खड़ा हो गया है। कोशिश के बावजूद वह अपनी चञ्चलता को छिपा पाने में समर्थ नहीं हो पा रहा

था। के० एन० कह रहा था—"ब्रह्मदेव, नमस्कार करो, आप कान्तजी हैं!"

"अरे, तुम्हीं हो भाई!" भैया बोले—"आओ, आओ!"

मैंने सोचा—यह ज़रा-सा बच्चा लगनेवाला क्या आर्टिस्ट हो सकता है? उड़ती हुई नज़र से हजरत का फिर मुलाहजा किया और चुपचाप, मेज पर पड़ी एक पत्रिका उठाकर उलटने-पलटने में लग गया। भैया कान्त उसे अपने पास बिठाकर दुनिया भर की बातें पूछने में लग गये थे। इत्ता-सा लड़का आर्टिस्ट ही नहीं, लेखक भी बनना चाहता है! सुनकर मैं चौंके बिना नहीं रहा। उस समय वह बिहार से टटका-टटका आया था इसलिए 'बिहारी-रंग' से अपने को अछूता नहीं रख पाया था। एक-एक बात बतलाने में, उसे परिश्रम-सा करना पड़ रहा था। उस समय के ब्रह्मदेव और आज के मधुर की तुलना करता हूँ तो चकित हुए बिना नहीं रह पाता। मनुष्य को अगर वातावरण का निर्देश और अवलम्ब न मिल पाया होता तो इसमें कोई सन्देह नहीं, आज वह अपने पूर्व-स्वरूप में, नंगा घूमता हुआ, पत्थर के हथियारों से शिकार करता होता!—इस तथ्य से शायद किसी को इनकार नहीं होगा।

थोड़ी देर बैठने के उपरान्त मैं घर चला आया।

दूसरे ही तीसरे दिन देखा—

वही ब्रह्मदेव, भैया कान्त के स्नेह का सर्वोपरि अधिकारी हो गया है। देखते ही देखते, उस पर छाया 'बिहारी-रंग' छूट गया। बातचीत करने में उसका धड़का ऐसा खुला कि मैं ही नहीं, जिसने भी देखा, उसे 'माशाअल्ला' कहकर हैरत में रह जाना पड़ा। कला के प्रति उसकी तीव्र अभिरुचि थी मगर वातावरण के अभाव में, वह प्रस्फुटित नहीं हो पा रही थी। चाहे जो हो, इसमें दो मत नहीं होंगे कि मधुर के निर्माता भी भैया कान्त ही थे। मधुर को, आरम्भ

ही से उनका इतना स्नेह मिला कि हम-सब देखनेवाले देखते ही रह गये।

उसी समय, एक दिन अशेष ने मुझसे पूछा था—"इस लड़के में जाने क्या बात है कि देखते ही प्यार उमड़ आता है यार!"

"है तो!"

"कान्तजी तो उसकी ओर ऐसा खिंचे हैं कि मत पूछो। उन्हें कभी मैंने इतना स्नेह अपने बच्चों को करते नहीं देखा। खैर, मारो गोली। साला है, बहुत शैतान...."

चाहे जो हो, ब्रह्मदेव-सा सौभाग्य बहुत कम देखने में आता है कि बिना माँगे स्नेह का खजाना, छप्पर फाड़कर मिलता रहे।

दीपावली-अंक निकला और खूब निकला।

देखनेवाले देखते ही रह गये।

कान्तजी ने, हम सभी ने उस अंक को सजाने में, परिश्रम और लगन की कंजूसी नहीं बरती थी। भैया का सामीप्य, कठिन से कठिन काम को कितना आसान, कितना मनोरञ्जक बना देता था!

'चिनगारी' के दीपावली-विशेषांक में, सहायक सम्पादक के रूप में अशेष का नाम छपा था। परन्तु दूसरे ही अंक में, अब खयाल नहीं आता, जाने क्या कारण हुआ कि कम से कम अशेष का नाम तो 'चिनगारी' से अलग हो ही गया। अशेष से भेंट भी नहीं हो पायी। पता चला कि हजरत ने अपनी परीक्षा भी नहीं दी और घर चले गये।

दूसरे अंक में जब उसका नाम नहीं गया तो मैंने भैया से पूछा था—"प्रभंजन ने भी क्या अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया है?"

"हूँ!"

"क्यों?"

"केशर जी, एक बात बताऊँ आपसे। 'चिनगारी' मेरा, केवल

मेरा लहू पी-पीकर इस रूप में पहुँच पायी है। वह मेरे जीवन का एक अङ्ग बनकर, जब तक मैं जियूँगा, जियेगी। साहित्यिक ठीकेदारों ने तो मुझे एक तरह से साहित्य-मन्दिर का 'हरिजन' क़रार दिया ही है। प्रभञ्जन मुझे प्यारा है। इसमें भी कोई शक नहीं कि वह भी मुझे उतना ही चाहता है। मैं खुद नहीं समझ सका हूँ कि वह मुझसे चाहता क्या है? एक बात और है, इसे मेरा अहम् आप भले ही कह लें कि अपनी 'चिनगारी' पर अब किसी का प्रभुत्व मैं नहीं चाहता।....कुछ भी हो, इतना विश्वास रखें, नाम से वह अलग भले ही हो जाय, मेरे स्नेह की डोर को तोड़ पाना हजरतेप्रभंजन के बूते की बात नहीं। अज़ीब खब्तुलहवासी किस्म का आदमी है।"

वे बहुत गम्भीर हो आये थे। इस सम्बन्ध में मैंने फिर कोई चर्चा नहीं की।

'चिनगारी' में अशेष का नाम नहीं छपता था; परन्तु वह कभी भी चिनगारी-परिवार से अलग नहीं हो पाया।

● ●

'चिनगारी' के सात-आठ अंक डिमाई साइज़ में प्रकाशित हुए थे। स्टाल पर, पत्र-पत्रिकाओं की भीड़ में, साइज के छोटेपन के कारण, वह दबी-सी रहती थी। उसे डबल-क्राउन साइज (अठपेजी) में करने का विचार भैया महीनों से कर रहे थे। बाज़ार में डिमाई साइज का कागज भी बड़ी असुविधा से मिलता था। निश्चय हुआ और दिसम्बर '४८ वाला अंक बड़े साइज में प्रकाशित हो गया। कुछ लोगों ने समझाया भी कि कम से कम, दिसम्बर वाला अंक तो उसी साइज में रहने दें, फाइल रखने वालों की सुविधा की दृष्टि से। परन्तु निश्चय हो चुका था सो कोई असर नहीं हुआ। किसी भी बात का एक बार निश्चय हो जाने के बाद, फिर पलटना उन्होंने सीखा ही नहीं था।

बड़े आकार में 'चिनगारी' सचमुच भड़कीली लगने लगी।

और एक दिन—

ब्रह्मदेव का नया नामकरण हुआ, 'मधुर'। वह अपने घर से बनारस पढ़ने के लिये आया था। यहीं पर उसकी दो बड़ी बहनें रहती थीं। रात-दिन वह भैया के निकट ही बना रहता। पढ़ने की व्यवस्था के साथ ही, भैया ने अपने मित्र और काशी के सुप्रसिद्ध चित्रकार श्री कांजिलाल की छत्र-छाया में, चित्रकला की ट्रेनिंग भी आरम्भ करवा दी। सुयोग्य गुरु की छाया में, देखते ही देखते 'मधुर' ने चित्रकला में आशातीत सफलता पा ली। 'चिनगारी' के स्टाफ़-आर्टिस्ट में उसका नाम छपने लगा। उसके बनाये हुए चित्र भी 'चिनगारी' के कवर पर प्रकाशित होने लगे।

चित्रकला के साथ ही साथ मधुर साहित्य की ओर भी रुचि रखता था। और इस क्षेत्र के लिये पूछना ही क्या था! कान्तजी जैसा स्नेही के साथ रहता ही था।

मैं उन दिनों सचमुच, मधुर की ओर कान्तजी का इतना अधिक स्नेह देखकर आश्चर्य में पड़ जाता था।

मैंने उन्हें, मधुर की छोटी से छोटी इच्छा के लिये, अपना आवश्यक से आवश्यक काम टालते देखा है।

देखने वाले देखते और कुछ समझ न सकने के कारण, अन्धेरे में दुनिया भर की अटकलों के तीर बरसा कर रह जाते थे।

भैया कान्त के अत्यन्त निकट रहने का सौभाग्य मिला था; परन्तु बहुत प्रयत्न करके भी समझ पाने में असमर्थ ही रहा हूँ मैं। जब मधुर मेरे सामने होता तो यह सोचे बिना न रह पाता कि इस लड़के में, कुछ ऐसी विशेषता अवश्य है कि कोई भी उसे स्नेह करना चाहने लगे!

मैं स्वभाव का बचपन से अक्खड़ रहा हूँ। बाल्य-बन्धुओं में तो

में, आज भी 'गुंडा' के विशेषण से प्रसिद्ध हूँ। गलत मतलब नहीं लगाया जाय, वस्तुतः गुंडा हूँ नहीं। बचपन में चाहे जो रहा होऊँ! हाँ, तो, मधुर की उस 'स्नेह-खरीदक' विशेषता का शिकार, मैं स्वयं हो चुका था। उसकी किसी भी माँग के लिये, न चाहते हुए भी जब मुझे परेशान हो उठना पड़ता तो समस्या का समाधान स्वतः ही हो जाता।

कुछ लोगों में, यह अपनत्व-स्पर्शी विशेषता प्रकृत रूप में होती है।

फिर कान्तजी जैसे असाधारण किस्म के स्नेही व्यक्ति के लिये, मधुर को इतना चाहना क्या अस्वाभाविक है ?

चित्रकला की साधना के साथ ही, कान्तजी के स्नेह की छाया में मधुर की साहित्य-साधना भी आरंभ हो गयी। वे बड़ी ही तत्परता के साथ, उसकी लिखी कहानियों का संशोधन करते। प्लाट, भाषा और शैली की पकड़ के लिये, घंटों सिर खपाते रहते।

एक दिन कहने लगे—

"केशरजी, मधुर का भविष्य बहुत उज्ज्वल है। क्यों, क्या ख़याल है आपका ?"

"सो तो है ही।" मैं इतना ही भर कह पाया। कहने को तो हुआ, आपके इतने परिश्रम के बाद भी अगर उज्ज्वलता के प्रति कोई आशंका हो तो....तो....पर नहीं कहा।

उन्होंने मेरी असुविधा, असमंजस ताड़ लिया और—"आपका सोचना ठीक है। मैं खुद घपले में पड़ गया हूँ। आखिर इस लड़के में ऐसी क्या बात है, जो मुझे इस बुरी तरह से अपनी ओर खींच लेती है। आप समझ रहे हैं तो ?"

"हूँ!"

"फिर कुछ सोचने में लग गये ! अरे भाई, जो भी कहना हो,

निस्संकोच कह दिया कीजिए। दुनियावालों की परवाह मैं कतई नहीं करता। मगर मेरे अपने आदमी के मन में कोई ग़लतफ़हमी हो, यह तो ठीक नहीं है...."

वे इतना गंभीर हो गये थे कि मैं घबरा उठा।

"आप यह क्या कह रहे हैं!" जल्दी से कह उठा—"इतने दिनों आपके निकट रह चुका हूँ...." आवेश में मेरा स्वर थर्रा उठा था।

"ठीक है, ठीक है। मेरी बात जाने दीजिए। आप हैं, अशेष हैं और भी बहुत-से नाम गिनाए जा सकते हैं। वे भी तो मधुर को चाहने लगे हैं...."

"उसमें सचमुच कोई ऐसी बात है। तभी तो न चाहते हुए भी उसकी ओर उन्मुख ही उठने को विवश होना पड़ जाता है।'

"ठीक कहते हैं।" वे हँस पड़े—"अरे, हाँ, आपका उपन्यास शुरू हुआ कि नहीं?" वार्ता का रुख अप्रत्याशित रूप में पलट देने की उनकी आदत से परिचित हो चुका था सो कुछ अस्वाभाविक नहीं लगा। वे कहते रहे—"आपको दूकान की झंझटों में, समय ही कहाँ मिल पाता होगा?"

मेरे मन के टीस रहे घाव को उन्होंने छू दिया था।

सिर के ऊपर पंखा घूम रहा था मगर फिर भी पसीने-पसीने हो उठा।

"अरे, क्या हुआ आपको केशरजी!"

"मेरा मन दूकान के काम नहीं लगता भैया!"

"पर वही आपके जीवकोपार्जन का ज़रिया है। मेरे भाई, परिस्थितियों के हम दास होते हैं। अकेले आदमी हैं, अगर अपने उखड़े मन को कसने की कोशिश नहीं करेंगे तो सब कुछ नष्ट होकर रह जायेगा। आपसे पहले भी कई बार कह चुका हूँ, केवल साहित्य

के गली-कूँचों में भटकते रहने से जीवकोपार्जन जैसी भयंकर समस्या का समाधान मिल पाना बहुत ही कठिन है। उस वातावरण में, इतने गहरे डूबे रहने के बावजूद आप इतना लिख लेते हैं, यह कम आश्चर्य की बात थोड़े ही है...."

मैं पूर्ववत् मौन बना रहा। मन ही मन सोचे जा रहा था, अगर मेरी वास्तविक स्थिति का परिचय हो जाय, तब भी क्या वे ऐसी ही सीख दे सकेंगे ?....

"कितनी बड़ी है आपकी दूकान ?"

"ऐसे ही...."

"क्या-क्या बेचते हैं ?"

"मसाला-मेवा वगैरह-वगैरह...."

"आपको सचमुच भाई, बहन आदि कोई भी नहीं ?"

"माँ है !"

"और आपकी पत्नी ?"

"हाँ !"

"शादी भी हो चुकी है आपकी ? मैं तो समझता था कि अभी सिंगल ही हैं...."

मैं शरमा-सा गया। वे मेरी झेंप को देखकर मुस्कराए चले जा रहे थे।

अभी ठीक से सम्हल भी नहीं पाया था कि उन्होंने तड़-से दूसरा प्रश्न कर डाला—"और बच्चे ?"

"नहीं।"

"क्यों ?" उनकी मुस्कान और गहरी हो आयी थी और मेरी हालत मारे शर्म के बिगड़ती चली जा रही थी—"शादी हुई है तो बच्चों का आना बहुत जरूरी होता है और आप हैं कि शरमाए चले जा रहे हैं...."

"अभी तो मैं खुद बच्चा हूँ!"

"अजी, आप जैसे बच्चे को अब तक अधिक नहीं तो तीन बच्चों का स्वनामधन्य पिता होना चाहिए!" क्रमशः गहरी होनेवाली मुस्कान ठहाके में परिणत हो गयी। मैं बुरी तरह संकुचित हो गया था। पर उन्होंने बात को वहीं समाप्त कर दिया। अब तक की विनोदी-चर्चा में, उनकी सारी गंभीरता धुल-पुँछ गयी थी। वर्षा के उपरान्त जिस प्रकार आसमान नीलोज्वल हो उठता है, उसी प्रकार उनके मुख पर भी स्वाभाविक-स्वच्छता चमक उठी। मेज ही पर एक छोटा रेडिओ-सेट रखा रहता था। स्वीच ऑन कर दी उन्होंने और तब संगीत की मधुर लहरियों ने, वातावरण के रहे-सहे गांभीर्य को भी अपने में समेट लिया।

● ●

'पपिहरा' धारावाहिक रूप में, तीन ही चार महीने प्रकाशित हुआ था। पाठकों की आकुल-माँग का ताँता लग गया कि उसे पुस्तकाकार रूप में अविलम्ब निकाल दिया जाय। 'पपिहरा' की शैली, भाषा और कथावस्तु, भैया कान्त की उपन्यास-कला के लिये सचमुच अपूर्व साबित हुई थी। मुझे खूब याद है, धारावाहिक रूप में एक-एक परिच्छेद पढ़ने के बाद, कुछ पाठकों के धैर्य ने जवाब दे दिया और उन्होंने भैया के पास गालियों से भरे पत्र लिख मारे थे। बिना किसी घोषणा के उनके पास, सैकड़ों रुपये एडवांस स्वरूप भी आ गये थे।

भैया कान्त के उपन्यासों के प्रकाशक कुबेर सिंहजी (चौधरी एण्ड संस) और मेवालाल गुप्त (हिन्दी प्रकाशन मंदिर) 'पपिहरा' के प्रकाशन के निमित्त बुरी तरह उत्सुक हो गये थे। परन्तु वे कोई निश्चय नहीं कर पा रहे थे कि क्या किया जाय? उधर 'चिनगारी'

के पाठकों का अधैर्य अपनी चरम-सीमा पर पहुँच रहा था। मैं स्वयं 'पपिहरा' को संपूर्ण पढ़ने के लिये अकुल हो रहा था।

"आप अब 'पपिहरा' को पूरा कर ही डालिए!" एक दिन मैंने कह ही डाला।

"वह तो करना ही पड़ेगा पर मैं यह निश्चय नहीं कर पा रहा हूँ कि उसे प्रकाशित किस रूप में किया जाय...."

"क्यों, चौधरी जी और मेवालाल—दोनों ही आदमी तो...."

उन्होंने मेरी बात को बीच ही में काट दिया—"आप समझते नहीं। 'पपिहरा' को अप्रत्याशित रूप में जो लोकप्रियता मिल रही है छपने के पूर्व ही; वह साधारण बात नहीं। अजीब धर्म-संकट में पड़ गया हूँ। कुबेरजी या मेवा—किसी को प्रकाशानार्थ दे दूँ तो जानते हैं, उसकी लोकप्रियता का सारा लाभ प्रकाशकों के पेट में पहुँच जायगा। हज़ार दो हजार रुपये लेकर, उसका राइट बेच देने के बाद, मेरे पास रह ही क्या जायगा? कुछ नहीं।"

प्रकाशकों और लेखकों का क्या सम्बन्ध होता है, इससे मैं पूर्णतया अनभिज्ञ था। हम लोग शायद भारत कैफे में बैठे जलपान कर रहे थे। मधुर भी था।

"आपने अपने सारे उपन्यास बेच डाले हैं?" मेरे मुख से निकल गया।

"यही तो बात है केशर जी!" वे कुछ सोचते हुए-से बोले—"आपको जानकर शायद आश्चर्य होगा। आरंभिक विवशता से लाभ उठाकर कौड़ी के मोल मेरी पुस्तकें खरीद ली गयीं। और अब प्रकाशकों को मेरी पुस्तकों से हज़ारों रुपये साल की आमदनी हो रही है, होती भी रहेगी। मुझे मुशुद्ध संकट मोचन वाला बेसन का लड्डू चखना पड़ रहा है!"

"मैं तो समझता था आपको रायल्टी मिलती होगी...."

"नहीं भाई !" उन्होंने दीर्घ निश्वास के बाद कहा—"रायल्टी मिलती होती तो इस समय शानदार ज़िन्दगी बीतती। एक बात और भी तो है, जब मुझे कोई नहीं जानता था, मैं खुद अपना मूल्य नहीं समझता था, तब मेरे इन कृपालु-प्रकाशकों ने, पूँजी का खतरा उठाकर मुझे दुनिया के सामने किया....आज मेरी पुस्तकें अगर प्रकाशित न हुई होतीं तो कौन जानता ही मुझे। हर लेखक को प्रकाशक का यह एहसान तो मानना ही चाहिए। मैं मानता भी हूँ...."

मेरे मन में रह-रहकर यह प्रश्न घुमड़ उठता था—आखिर अपने उपन्यासों पर उन्हें क्या मिल पाया होगा ? कि तभी मधुर ने तड़ाक से पूछ ही लिया—"कुबेर जी ता बड़े भले आदमी मालूम पड़ते हैं। उन्होंने आपके साथ कोई अन्याय तो किया नहीं होगा ?"

वे कुछ सोचने में लग गये थे। मधुर की बात शायद उन्होंने सुनी ही नहीं।

उन्हें मौन देख, मैंने टोक दिया—"कुबेर जी ने तो आपको पैसा अच्छा ही दिया होगा। गुल्लू साव की तो बात ही निराली है। पुराने बनिया टाइप के आदमी हैं। बालू में से तेल निकालने के क़ायल...." उत्सुकता के आवेग में, मेरा स्वर लड़खड़ा उठा था।

"हाँ !" उन्होंने मेरी ओर मुड़कर देखा—"आप ठीक कहते हैं। गुल्लू साव की बनिअई में कोई शक़ नहीं। पर केबेर जी जैसा आदमी मिलना मुश्किल है। पहली बार में उनसे भी पैसा नाम ही मात्र को मिला था। मगर जब किताबें चल निकली तो मैंने उनसे निवेदन किया कि मुझे कुछ और पैसे मिलने चाहिए। मैं कापीराइट दे चुका था। पर उन्होंने मुझे फिर पैसे दिये...." वे कहते रहे—"और फिर लिखते समय मुझे ही इस बात का अहसास थोड़े ही हुआ था कि मेरे नाम की धूम मचेगी, मेरी पुस्तकों से प्रकाशकों

को पैसे मिलेंगे। यह तो अपना-अपना भाग्य है भाई। मुझे नाम मिला, चाहनेवालों की भीड़ मिली और प्रकाशक को धन...."

"अगर आपकी सारी पुस्तकें रायल्टी पर होतीं तो इस समय मज़ा आ जाता!" मधुर कह उठा।

"ज़रूर-ज़रूर। तब तो तुम्हें सोने के पत्तर से मढ़वा कर रख देता बच्चू!"

मधुर झेंप गया। मैं हँस पड़ा।

हमारी पीढ़ी के उभरते लेखकों के समक्ष, प्रकाशन की कोई खास कठिनाई नहीं दीख पड़ती। मगर उनको, अपनी पुस्तकों के प्रकाशन में जिस कठिनाई का सामना करना पड़ा था, वह कम भयंकर नहीं। उन्होंने अपनी परेशानियों, कठिनाइयों के द्वारा भविष्य के लिये प्रशस्त मार्ग निर्मित न किया होता तो आज की उठ-उभरती पीढ़ी के हौसले पस्त हो जाते!

रास्ते में—

वे हमसे, 'विद्रोही-सुभाष' के प्रकाशन के लिये चौधरी जी और गुल्लू प्रसाद केदारनाथ के बीच हुई प्रतिद्वन्द्विता की मनोरंजक चर्चा करते रहे। 'विद्रोही-सुभाष' के प्रकाशन में, चौधरी जी के चूक जाने का अफसोस उन्हें भी था और कुबेरजी को भी।

गुल्लू प्रसाद से उन्हें, बचपन में लिखे गये तिलस्मी-ऐयारी उपन्यास 'रक्त-मन्दिर' का पारिश्रमिक केवल साढ़े अठारह रुपये मिले थे और वह भी बहुत पत्र-व्यवहार और झंझटों के बाद! गुल्लू साव ने उनके प्रथम उपन्यास 'खून का प्यासा' को तो यों ही छाप लिया था! यह सब बतलाते-बतलाते वे हँसे चले जा रहे थे। परन्तु इतना सब होने पर भी गुल्लू प्रसाद के वे प्रशंसक थे। उनके प्रति तनिक भी मन में कलुषता नहीं देखी मैंने।

वे अक्सर कहा करते, अगर उनके आरम्भिक प्रयासों को छापकर

गुल्लू प्रसाद उत्साह न बढ़ाते तो बहुत सम्भव था, इस क्षेत्र में आ ही न पाते वे।

भारत काफे से हम तीनों चौक की ओर बढ़े।

जगन्नाथ दास बलभद्र दास की जेनरल मर्चेंण्ट वाली दूकान के नीचे, फुटपाथ पर पत्र-पत्रिकाओं के स्टाल वाले से वे कुछ बातें कर रहे थे। हम और मधुर प्रेम से हरे चने की फंकी मार रहे थे।

सहसा ही वे चौंक पड़े।

"केशर!"

"हाँ!"

"वह देखो, मेरे गुरुदेव चले जा रहे हैं...."

"कौन...." मैंने सड़क की ओर देखते हुए कहा—"वे तो बेढब जी हैं!" मैं हैरान था कि आखिर बेढब जी उनके गुरू कैसे हो सकते हैं?

"नहीं जी, उनके पास ही जो खड़े हैं, उनका नाम नहीं जानते? वे हैं पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'....उग्र जी मुझे पहचानते तक नहीं पर मैं उन्हें अपना गुरू मानता हूँ...."

हिन्दी के अप्रतिम शैली-शिल्पी उग्रजी की झलक ही भर मिल पायी थी कि वे बेढब जी के साथ ही आगे बढ़ गये।

"चलिए, कम से कम उन्हें प्रणाम तो कर ही लिया जाय....मधुर ने कहा था शायद।

"नहीं, जाने दो!" उनके मुख से उच्छ्वास निकल पड़ा—"वे मुझसे मिलना नहीं चाहते, मेरे पत्रों का उत्तर तक देना पसन्द नहीं करते तो मैं ज़बरदस्ती सामने जाकर प्रणाम ही क्यों करूँ?" और तुरत ही प्रेस की ओर मुड़ पड़े।

भैया आजीवन उग्रजी को गुरु रूप में मानकर, मन ही मन श्रद्धा करते रहे। ठीक एकलव्य की तरह। उग्रजी ने कभी उनके पत्रों का

उत्तर नहीं दिया और न ही कभी मिलने का मौक़ा ही। इसी खीझ में, भैया ने 'चिनगारी' के 'उड़ते-उड़ते' स्तंभ में एक नोट भी लिखा था।

उपेक्षा पाकर उन्हें चोट लगी होगी, इसमें कोई सन्देह नहीं। और इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि कभी क्षण भर के लिये उग्रजी के प्रति अपने हृदय की असीम-भक्ति में उन्होंने कमी नहीं आने दी।

अकस्मिक रूप में उस दिन उनका दर्शन हो गया था। मैंने देखा, भैया उद्विग्न-से हो गये थे। हमारे शिशु-मस्तिष्क में रह-रहकर, उग्रजी की उपेक्षा और अपने भैया की श्रद्धा की टकराहट की लहरें, विद्युत गति से लहरा उठती थीं। पर हम अपने में ही उलझकर रह जाते थे।

मगर आह!

भैया को यह अनुभव करने का अवसर ही नहीं मिल पाया कि उनके गुरु—द्रोणाचार्य—पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' के हृदय में, एकलव्य—कुशवाहा 'कान्त'—के प्रति कितनी अपार ममता बनी हुई थी।

श्रद्धेय उग्रजी अपने व्यक्तित्व की अक्खड़ता के लिये हिन्दी-साहित्य-जगत में विख्यात रहे हैं। वे बड़े झगड़ालू हैं, किसी से उनकी पटती नहीं—आम धारणा बन चुकी है। परन्तु तनिक भी निकट होने का सौभाग्य जिसे मिल पाया है, वह उनके व्यक्तित्व की सहजत तरलता और हृदय की स्नेहमयता से अपरिचित नहीं होगा। बाहर से रूक्ष और स्नेह-कृपण-से दीखनेवाले उग्रजी की महाप्राणता अतुल्य है। 'विष-रस भरा कनक घट' वाली प्रवृत्ति से जन्मजात घृणा ने ही उनके व्यक्तित्व में इतनी प्रखरता ला दी है।

भैया के देहावसान के उपरान्त, श्रद्धेय उग्रजी ने, दिल्ली के

मासिक 'समाज' में, भैया कान्त को हृत्कम्पी-आशीर्वाद दिया था। अपने उस शिष्य को, जिसकी वे सदैव उपेक्षा करते रहे।

वह 'आशीर्वाद' उनकी महाप्राणता का प्रमाण नहीं तो और क्या है?

स्मृति-प्रवाह के मार्ग में रोड़ा-सा पड़ा है। श्रद्धेय 'उग्र' जी की उन मर्मस्पर्शी पंक्तियों से, आप सब को परिचित कराने के मोह का शमन नहीं कर पा रहा हूँ इसलिये लीजिए, वह अपूर्व, करुणार्द्र-आशीर्वाद अविकल रूप में प्रस्तुत है....

कलाकार और मौत

गत फरवरी के प्रथम सप्ताह में संवाद पढ़ने को मिला कि एक अमरीकी उपन्यासकार और सुलेखक तथा उसकी परम सुन्दरी पत्नी की हत्या किसी ने रातोरात कर डाली। हत्या के पूर्व उन्हें निर्दयता से पीटा गया, फिर छुरे घुसेड़े गये और फिर गोली मारी गयी थी! जरा हिंसा का शृंगार, 'फिनिश' तो देखिये। 'वीभत्स' का कैसा विस्तार। चित्रकार जैसे रंग-रंग से चित्र रचे, गवैया जैसे ढंग-ढंग से तान-पलटे लेकर संगीत सँवारे, कवि जैसे अक्षर, छन्द, ध्वनि और रस से काव्य करे वैसी ही शान्ति और व्यवस्था और मनोयोग से हत्यारा हत्या भी करे! समाचार पढ़ने के बाद मेरे मन में आया कि उस अमरीकी कलाकार की मृतात्मा से कहीं भेंट होती तो मैं उससे पूछता कि जीवन में अधिक मजा था या मृत्यु में? यश में अधिक आनन्द था या हण्टरों से निर्दय पिटे जाने में? स्वार्थ और छुरे में से छाती की छलनी अधिक उन्माद से कौन करता है? खूबसूरत औरत और पिस्तौल की गाली में कितना फर्क है? उस अभागिनी सुन्दरी से भी मैं जरूर पूछता कि रूप और मृत्यु में (ओ भार्या रूपवती शत्रु!) कोई भेद है भी?

कुशवाहा 'कान्त'—जीवन और साहित्य

कुशवाहाकान्त

हिन्दी कथा-साहित्य से अगर आपका जरा भी सम्बन्ध है तो आपने कुशवाहा 'कान्त' का नाम जरूर सुना होगा। यह बात है कि आप ने उक्त नाम अप्रसन्नता से सुना हो या प्रसन्नता से। 'उग्र' गुरुडम में नहीं विश्वास करते। बला से—यह लोग कुशवाहा 'कान्त' को 'उग्र' स्कूल का कलाकार मानते थे। हिन्दी में फिलहाल मेरी नजरों में कमोबेश 'उग्र'-स्कूल का ही बोलबाला है। यद्यपि 'उग्र' बीसियों बरसों से नहीं के बराबर लिखते हैं। पर स्वयं मैं उसे अपने स्कूल के महज एक शाखा का विद्यार्थी मानता था। उस शाखा का नाम रख लीजिये 'यौन-सनसनी'। वर्त्तमान विश्व का बौद्धिक बाजार—खासकर दूसरे महायुद्ध के बाद—इसी सनसनी से सनक रहा है। मगर पहले मुझे कुशवाहा कान्त की खबर लेने दीजिये।

कलाकार और कलदार

मेरी बातों का आप विश्वास करें तो मैंने अपनी रचनाओं में समाज को 'ज्यों का त्यों' दर्शाने के फेर में 'यौन-सनसनी' को सजाया था, कलदार कमाने के लिये नहीं; पर, दुर्भाग्य से, 'यौन सनसनी'—चित्रण में—अपना-सा मुँह देखकर—बाजार के खरीदार चकाचक रस लेते हैं। रचनाओं की बिक्री तब ही होती है। पैसों की तो बरसात हो जाती है। एक बार मैंने ही कितने रुपये कमाये थे और कितने कम वक्त में? श्री ऋषभ चरण जैन का उत्थान-पर्व भी आप को भूला न होगा। वैसे ही कुशवाहा 'कान्त' ने खूब ही रुपये कमाये। कहने वाले तो सैकड़ों हजार की कहानियाँ सुनाते हैं। मुझे

इतना मालूम है कि एक दिन, एक टाइप के पाठक काशी से कन्या कुमारी तक कुशवाहा 'कान्त' को हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार मानते थे! जब हिन्दी के बिगड़े साहित्यिक और कलाकार उसको असफल-अश्लील कह रहे थे, तब वह बनारस में अपना बड़ा-सा प्रेस खोलकर, चौथाई दर्जन मासिक पत्र और सैकड़ों पुस्तकें प्रकाशित कर कलाकारों को हैरान और रोजगारियों को परेशान कर रहा था।

हत्या

मनचले, रंगीले लेखक 'उग्र' की साहित्यिक-हत्या कर डाली गयी, इसे 'उग्र' न भी मानें, तो दुनिया मानती है! श्री ऋषभ चरण के दुःखद दर्शन सामने हैं। और कुशवाहा 'कान्त' की तो सचमुच हत्या ही की गयी थी। आने वाली होली के दिन उसकी तीसरी या चौथी मरण-तिथि पड़ेगी। वह 'सफल-बाजारू' किस बुरी तरह से मारा गया था, किस बुरी तरह मरा कि स्मरण मात्र से मेरे तो रोंगटे खड़े हो जाते हैं। उस वर्ष की होली के आठ-दस दिन पूर्व, रात के वक्त कुशवाहा 'कान्त' के साथ आधे भड़ैत की तरह रिक्शे में बैठ कर किसी ने उस पर अनेक घातक आक्रमण किये। स्वर में छुरा, सीने में छुरा, पेट में छुरा। फिर जख्म-सोजन के बाद अस्पताल में डेढ़ हफ्ते तक पीड़ा और प्यास से तड़पना। फिर ऐन होली के दिन मरण!

> अरे ओ जाने वाले,
> रुख से आँचल को हटा देना,
> तुझे अपनी जवानी की कसम!

औरत

आर्टिस्ट को धन जितना नहीं मारता, यश जितना नहीं, नशा भी; उसे बहुत आसानी से मारती है औरत। इसीलिये खूबसूरत स्त्री के कारण प्राण खोने वाले कलाकार की चर्चा में कुशवाहा कान्त की याद आ गयी। मालूम नहीं उसके मुकद्दमे में क्या प्रकाशित हुआ, क्या नहीं; पर जब उसकी हत्या हुई मैं कलकत्ते में था—तब यही अफवाह जोरों पर थी कि उसके प्राणों की ग्राहिका भी कोई औरत ही थी। धन, यश, नशा, औरत प्रतिभाशाली को वैसे ही सुलभ जैसे भूत साधनेवाले को भौतिक सुख। पर, आपने सुना होगा, भूतसाधक प्रेत से प्राप्त चीजों का स्वयं उपयोग करते हुए मारे भय के काँपते हैं। प्रेत की कमाई खाने वाला प्रेत ही से मारा भी जाता है। फिर प्रतिभा बाजार में या विश्व-विद्यालयों में तो बिकती-मिलती नहीं। वह तो ईश्वर की कृपा से मुफ्त मिलती है। और बाइबिल में लिखा है कि—"अनायास मिली वस्तु का वितरण अमूल्य ही होना चाहिये।" किसी रंग का भी प्रतिभाशाली जब अपनी प्रतिभा से बाजारू लाभ उठाने लगता है तब नष्ट भी होने लग जाता है। प्रतिभा से नाजायज़ फ़ायदा उठाना ही नहीं चाहिये। प्रतिभा की चाँदी बनाने वाले डाक्टरों का वंश नहीं चलता, साधुओं का स्वर्ग नष्ट हो जाता है और कलाकार प्रतिभाहत ही नहीं पागल तक हो जाते हैं। 'फ्लोबा'—फ्रांस के महान् लेखक ने जीवन से ऊब कर आत्महत्या को खूब माना था। यही गति श्रेष्ठ फ्रांसीसी कथाकार मोपासाँ की हुई थी। अद्भुत इंगलिश लेखक आस्कर वाइल्ड ने घोर अपमानक जेल-जीवन भी भोगा सो तो दरकिनार; फ्रांस में जब वह मरा तो उसकी काया सड़ कर गल तक गयी थी। आस्कर वाइल्ड

का शव कन्धे पर उठाकर कब्रगाह ले जाने वाले चन्द चार नजदीकी यार मात्र थे। और वर्षा हो रही थी धुआँधार, दुर्दिन, चारों तरफ अन्धकार....अन्धकार।

ताव और भाव

वह मेरे ही बीहड़ मिर्जापुर जिले का अल्हड़ लेखक था— वही कुशवाहा कान्त। वह अभी नौजवान ही था। गधा-पचीसी से महज चन्द जूते आगे। भलेमानसों की राय में वह बुरा लेखक था इसलिये नहीं कि वह 'यौन-सनसनी' लिखता था, बल्कि इसलिये कि वह बाजार में सफल था। कुशवाहा कान्त के आगे-पीछे 'यौन-सनसनी' लेखक अनेक पर उन पर नामधारी भले आदमियों की नजर नहीं। वही सबकी आँखों का काँटा था। उसके मारे जाने से बहुतों को खुशी भी हुई हो, तो कोई ताज्जुब नहीं। उसे अगर आदर देकर बढ़ावा दिया गया होता तो संभव था वह 'यौन-सनसनी' से हटकर और भी उत्तम साहित्यिक-मार्ग ग्रहण करता। पर, हमारे यहाँ ऐसी चाल नहीं।

कुशवाहा कान्त ने क्या बुरा किया था, किसकी गाय मारी थी उसने? वह उत्तेजक साहित्य लिखता था—यही न। हिन्दी में कितने पाठक हैं। सारे भारत की बतलाइए। पहले यही बतलाइये कि सारे भारत में पढ़े-लिखे लोग ही कितने हैं? ५ प्रतिशत? उनमें हिन्दी कितने जानते हैं? उनमें खरीदकर कितने पढ़ने वाले हैं? मैं दावे से कहता हूँ आज का सत्ताधारी स्वदेशी राजनीतिक अपने दुष्ट-कर्मों से सारे भारत की जनता का जितना नुकसान कर रहा है, हिन्दी का कोई भी साहित्यिक उसका पासंग भी नहीं कर सकता। फिर भी कुशवाहा कान्त

को बुरा कहनेवाले भलेमानस, ऐसे अनैतिक अधिकारियों से घृणा नहीं कर सकते। उलटे पापियों, जन-लूटकों, भ्रष्टाचारियों को महिमान् महान्, श्रीमान क्या-क्या करते हैं। फोटो छापते हैं, जीवनी छापते हैं, अभिनन्दन-ग्रन्थ और मानपत्र समर्पित करते हैं।

मैं कहता हूँ आज के अनेक मिनिस्टर या डिसामेट यदि मरने के पहले ही मार (भावुकता की बहक में कहीं पाठक-गण गोडसे-पंथ के अनुगामी न बन जाँय!) न डाले गये तो मरते ही युग के स्मृतिपट्ट से यूँ मिट जायेंगे जैसे जानवर विशेष के सर से सींग गायब—कोई उनका नामलेवा न रह जायगा। पर कुशवाहा कान्त के पाठक उसके मर जाने पर भी कम होनेवाले नहीं। भले ही आप उसे किसी दर्जे का लेखक कहें और उन्हें किसी दर्जे का पाठक।

फागुन के दिन चार

उस दिन रंग नहीं था तो कुशवाहा कान्त उपन्यासकार के कफन पर बाकी सारी विलासी काशी रंग-रंगीली लाल-हरी-नीली-पीली थी। उन्माद नहीं था तो उस मैखार की काया में बाकी सारा शहर उन्मत्त था। अस्सी से वरुणा तक करुणा केवल कुशवाहा कान्त की अर्थी के निकट; बाकी चारों ओर उल्लास, हास, विलास, रास—शहर में इतना जीवन था कि उस मुर्दे की सुधि जिगरी दोस्तों को भी न आई हो, तो आश्चर्य क्या! होली के रंगीन विशेषांकों में उसके लिये, अखबारवाले ब्लैक बार्डर लगाते भी तो क्योंकर। सो, जब उसकी उम्रवाले तरुण अपने प्रिय और प्रियतमों को गले से लगा रहे थे तब कुशवाहा कान्त को चिता पर सुलाकर जलाया जा रहा था।

लो!

बाजार जीतते वक्त और जीत लेने के बाद भी अनेक बार पत्र लिख और पुस्तकें भेजकर उसने मुझे गुरु माना। पर, मेरा मुँह सहज सीधा होनेवाला कहाँ। कभी मैंने न तो उसके पत्रों का उत्तर दिया और न आशीर्वाद ही। मिर्जापुर का वह भी, मैं भी। मैं 'मतवाला' निकालता था, वह 'चिनगारी' पर हमने न तो कभी एक दूसरे को देखा न बातें कीं। इतनी बातें आज मैं लिख रहा हूँ उसके मर जाने के तीन या चार साल बाद!

श्रद्धेय पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' के उपरोक्त करुणा-विगलित उद्‌गार को, साहित्य-जगत् ने चौंकते हुए देखा था। हिन्दी के एक प्रख्यात कथाकार-आलोचक ने उसे देखने के उपरान्त, विस्मयभरे स्वर में मुझसे कहा था—'इतना हिला देनेवाला उद्‌गार संभवतः किसी भी साहित्यकार के प्रति प्रकट नहीं किया गया....स्व० कान्त, उग्रजी से दूर होते हुए भी कितने समीप थे, सोचकर आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता!'

भैया कान्त ने, जीते जी अपने एकमात्र साहित्य-गुरु का आशीर्वाद नहीं पाया; परन्तु उनकी आत्मा (आत्मा की चिरन्तनता स्वीकार की जाय तो!) निहाल हो ही उठी होगी!

उस दिन, जब हम बम्बई प्रिंटिंग कॉटेज वापस लौटकर आये तो वे चञ्चल-से हो रहे थे। मैं और मधुर—दोनों ही परेशान थे, आखिर उग्रजी को देखने के बाद ही उन्हें हो क्या गया?

"आपको क्या हो गया है?" मैं जब अपने को अधिक देर तक जब्त कर पाने में असमर्थ सिद्ध हुआ तो पूछ ही लिया।

उन्होंने सहसा कोई उत्तर नहीं दिया। थोड़ी देर के मौन के उपरान्त—"एक जमाना था केशरजी, जब मैं उग्रजी की पुस्तकों के लिये पागल बना फिरता था। ऐयारी और तिलस्मी नशे से मुक्त होते ही

मेरी शिशु-कलम ने, एक दिन जब अनायास ही उन्हें अपना आदर्श बना लिया तो चकित हुए बिना नहीं रहा...."

वे कुछ और कहने जा ही रहे थे कि मधुर ने प्रश्न कर डाला—
"तब आप उनसे मिले क्यों नहीं?"

मधुर के उद्धत-बचपने को उन्होंने अपनी मुस्कराहट में समेटा और वह चर्चा जहाँ की तहाँ रह गयी।

महाकवि प्रसाद ने 'आँसू' में यह अश्रुमयी-पंक्ति लिखी है—

'जो घनीभूत पीड़ा थी मस्तक में स्मृति-सी छाई...."

और कुशवाहा कान्त की हूकभरी याद के समय, बहुत संभव है, श्रद्धेय 'उग्र' जी के मस्तिष्क में भी महाकवि जैसी ही पीड़ामयी-स्मृति छा गयी हो।

रास्ते में करते थे कल जगह-जगह मंजिल,
आज दिल धड़कता है मोड़-मोड़ पर अपना

बहुत सोचने-विचारने के उपरान्त, अन्त में 'पपिहरा' के प्रकाशन के सम्बन्ध में भैया को निर्णय करना ही पड़ा। उन्होंने उसे स्वयं प्रकाशित करने का निश्चय कर लिया था। कम से कम 'पपिहरा' का प्रकाशन 'चिनगारी' के लिये ऐतिहासिक महत्व रखता है। उस समय तक हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में, उपन्यासों का धारावाहिक प्रकाशन तो होता था मगर भैया कान्त ने, 'चिनगारी' के विशेषांक रूप में संपूर्ण 'पपिहरा' प्रकाशित करने की घोषणा कर दी।

कहानी-मासिक का उपन्यास-विशेषांक भी हो सकता है, मेरी अपनी समझ से, भैया की यह सूझ पूर्णतया मौलिक थी। बाद में, उनकी इसी सूझ का प्रयोग अनेकानेक पत्रिकाओं ने किया और सफलता भी पायी।

'चिनगारी' का पपिहरा-उपन्यास-विशेषांक निकल रहा है, सूचना प्रकाशित होते ही सभी हैरत में रह गये। 'चिनगारी' की ग्राहक-संख्या देखते ही देखते चौगुनी हो गयी।

हम सब के उत्साह का तो पूछना ही क्या!

ग्राहक-संख्या जैसे-जैसे बढ़ती जा रही थी, भैया की घबराहट भी बढ़ती जा रही थी। 'चिनगारी' के चक्कर में पड़कर, साल डेढ़ साल

से वे कुछ लिख भी नहीं पाये थे। घर के हजारों रुपये, 'चिनगारी' में पड़कर पहले ही भस्म हो चुके थे। 'पपिहरा'-विशेषांक को अधिक संख्या में छापने के लिये पूँजी की समस्या, विकट रूप में उनके समक्ष आ गयी। एक साथ ही इतनी बड़ी पूँजी घर से लेकर वे 'चिनगारी' में लगाना उचित भी नहीं समझते थे। अभी तक वे, 'चिनगारी' को शग़ल के रूप में ही निकालते रहे थे।

उपन्यास-विशेषांक का प्रयोग था तो आखिर प्रयोग ही न ?

एजेंटों के आर्डरों पर विश्वास ही क्या ?

सफलता की आशा के साथ ही असफलता की संभावनाएँ भी कम नहीं थीं।

उधर—

'चिनगारी' के, भैया कान्त के शत-शत पाठकों के उत्साह का पारावार न था। उपन्यास-विशेषांक को पाने के लिये, जब वार्षिक-ग्राहकों की संख्या तेज़ी से बढ़नी शुरू हुई तो उन्हें बहुत कुछ आश्वासन प्राप्त हो गया। डगमगाते-पग दृढ़ हो गये।

'पपिहरा' का प्रकाशन चिनगारी-विशेषांक रूप में हो रहा है, यह जानकर चौधरी जी निराश तो हुए पर भैया को अनुत्साहित उन्होंने कभी नहीं किया।

भैया ने मुझसे बतलाया—

"चौधरी जी ने आशा के विपरीत, मेरे प्रकाशक बनने से प्रसन्नता ही प्रकट की और 'पपिहरा' (विशेषांक से अलग) की २००० प्रतियाँ खरीदने का वचन भी दे दिया !" उनकी मुख-मुद्रा पर आन्तरिक संतोष की चमक मैं स्पष्ट देख रहा था—"मैंने सोचा था, 'पपिहरा' नहीं दिया तो उनका सहयोगी-हाथ मुड़ जायगा पर मैंने समझने में ग़लती की थी। दो हजार प्रतियाँ एडवांस खरीदकर मेरी सारी चिन्तायें दूर कर दी हैं उन्होंने...."

बाद में, पता चला चौधरी जी से भैया को 'चिनगारी' के लिये समय-समय पर आर्थिक-सहायता भी प्राप्त होती रही है। चौधरी जी व्यवसायी थे और हर व्यवसायी व्यर्थ ही किसी की सहायता भी नहीं करता। कान्त जी से उन्हें भी उतना ही लाभ होता रहा होगा अवश्य। परन्तु लेखक-प्रकाशक के सम्बन्धों के प्रति जितना सतर्क, जितना विनम्र चौधरी जी को हमने देखा, वह औरों के लिये अनुकरणीय तो है ही असाधारण भी है।

भैया कान्त, उनकी नींव के पत्थर थे!—इसे चौधरी जी आज भी बड़े गर्व के साथ स्वीकार करते हैं। भैया कान्त और उनके बीच अनेक बार मनोमालिन्य हुआ पर वह केवल पत्रों तक ही सीमित रहा। सामना होते ही सारा मालिन्य बह जाता था। दोनों ही भूल जाते थे कि हमारे बीच अभी चार ही दिनों पूर्व, पत्र-व्यवहार में, गर्मागर्म तू-तू-मैं-मैं हो चुकी है!

हाँ तो, 'पपिहरा' उपन्यास-विशेषांक निकला। देखने वाले देखते ही रह गये।

बाजारों में, रेलवे बुकस्टालों पर—सभी जगह 'पपिहरा-उपन्यास-विशेषांक' की धूम मची थी। 'पपिहरा' का प्रकाशन, हमारी चिनगारी-प्रकाशन के स्वर्णिम-भविष्य का प्रथम-चरण प्रमाणित हुआ। उत्साहित होकर भैया ने अपने दूसरे उपन्यास 'लाल-रेखा' की, आगामी उपन्यास-विशेषांक के लिये घोषणा कर दी।

· 'चिनगारी' की शिशुता अब तारुण्य की ओर अपने सधे पर तेज़ क़दमों से बढ़ती जा रही थी। भैया कान्त की व्यस्तता भी उसी अनुपात में बढ़ती गयी।

हर महीने, मिर्जापुर से आकर बनारस में 'चिनगारी' को छापना और फिर मिर्जापुर से प्रकाशन कर सकना असम्भव-सा दीखने लगा। मिर्ज़ापुर में छपाई सम्बन्धी सुविधायें थीं नहीं। 'पपिहरा' की अभूतपूर्व

सफलता ने, भैया 'कान्त' को अपने नये उपन्यासों को स्वयं प्रकाशित करने की प्रेरणा दी थी। उनका एक-एक उपन्यास 'चिनगारी' के उत्कर्ष का सशक्त-साधन बन सकता है, यह स्पष्ट हो चुका था।

कोई न कोई निर्णय अब अत्यावश्यक हो गया था। एक सुनोयोजित स्थायी कार्यालय की व्यवस्था बहुत जरूरी हो गयी थी। बहुत सोचने-विचारने के उपरान्त, उन्होंने बनारस में ही स्थायी रूप से जम जाने का निश्चय कर डाला।

कार्य इतना बढ़ गया था कि 'चिनगारी' के लिये अपना निजी प्रेस भी होना अनिवार्य दीखने लगा।

"केशर जी!" एक दिन उन्होंने चर्चा छेड़ दी मुझसे—"मैं अब स्थायी रूप से बनारस ही आ जाना चाहता हूँ। चिनगारी-कार्यालय के लिये स्थान, आपकी नज़र में कोई हो तो बतलाइए। मिर्ज़ापुर और बनारस—मेरे लिये दो नावों पर पैर रखने की तरह प्रतीत होने लगा है...." कहते-कहते वे खुलकर हँस पड़े।

इस सम्बन्ध में मुझे अब तक कुछ भी नहीं मालूम हो पाया था। सुन कर मन में जाने कितना उल्लास आ समाया।

"सच!"

"हाँ, जी!" उन्होंने उसी तरह हँसते हुए कहा—"आपकी 'चिनगारी' का अब शीघ्र ही अपना निजी प्रेस भी हो जायगा। दूसरों के प्रेस में, जो मैं चाहता हूँ, वह सुविधा मिल नहीं सकती। 'चिनगारी' अब चल निकली है तो मेवालाल का दिमाग़ भी आसमान छूने लगा है। साले को जलन होती है न?"

"तब तो बड़ा अच्छा होगा!"

"अच्छा तो होगा पर पहले कोई जगह तो तलाशिए। आपकी ओर कोई जगह है ऐसी?" उन्होंने मेरे कन्धे पर हाथ रखते हुए, बड़े ही स्नेहपूर्ण स्वर में कहा—"आप बन्धुओं के निकट रहने से, मेरा

बोझ भी हलका हो जायगा। मिर्ज़ापुर में एकदम अकेला पड़ जाया करता हूँ....''

"देखूँगा।"

"मगर जल्दी!"

"अच्छा!"

और तब बड़े उत्साह से कार्यालय और प्रेस के योग्य स्थान की खोज में लग गया। कई स्थान देखे भी गये; पर जँच नहीं पाये। भैया, मधुर और मैं फ़ुरसत के समय घूमते हुए, जगह की ही तलाश में लगे रहते।

इधर—

मैं अपना अधिकांश समय, 'चिनगारी' और भैया के निकट रहने में ही सर्फ़ कर रहा था। परिणामस्वरूप मेरे मामा जी का असन्तोष भी बढ़ता गया। उनसे बार-बार चेतावनी पाता कि मन लगाकर काम नहीं करना हो तो जो अच्छा लगे वही करो। माँ की एक आँख तो मोतियाबिन्द ने बहुत पहले ही छीन ली थी, उसने क्रमशः दूसरी आँख की ज्योति पर भी अपनी कालिमा फैलानी शुरू कर दी। मकान के किराये और माँ की दूकान का बहुत बड़ा सहारा था। मैं जो कुछ भी दूकान से पाता था वह अब दूर होता दीखने लगा था।

मन लगाकर काम नहीं करता था तो पारिश्रमिक भी मामाजी मन से क्यों देते?

घर में इसी प्रश्न को लेकर दिन-रात तूफान मचा रहता। अजीब साँसत में पड़ती जा रही थी मेरी जान। घबरा उठता तो निश्चय कर लेता, यह लिखना-पढ़ना मेरे लिये बना ही नहीं है। मैं तो बैल की ज़िन्दगी जीकर, एक दिन कुत्ते की मौत मर जाने के लिये ही पैदा हुआ हूँ।

मन की पीड़ा, अवसाद और जीवकोपार्जन की जटिल-समस्या

में उलझा मेरा जीवन, आँधी की गोद में पड़े सूखे पत्ते के समान हो गया था। दिन भर के तन-तोड़ परिश्रम और मानसिक-प्रपीड़न के उपरान्त जब रात में लेटता तो आज भी मुझे याद है, रो पड़ता था।

धीरे-धीरे माँ की एक बची आँख की रही-सही ज्योति भी मोतिया-बिन्द ने अपने आप में समेट लिया। आँखें खोकर माँ का दिमाग़ और खराब हो गया। मेरे भविष्य के प्रति आशंका ने उसे विचलित कर दिया था। मुश्किल से आँख में, रोशनी की जो आभा थी, उसके सहारे वह दूकान का काम करती रहती। परन्तु वह भी कब तक चल सकेगा!

मैं अन्धा नहीं था। सब देखता था। देखता था और छटपटाकर रह जाता था। बचपन में ही शादी हो चुकी थी। असमय के व्याह में अक्सर जो दुष्परिणाम होते हैं, वही मेरे साथ भी हुआ। पत्नी के कड़, रुक्ष स्वभाव और मेरे भावुक, कोमल मन का कभी एकाकार नहीं हो सका। बड़े घर की बेटी थी, सो स्वयं कष्ट सहकर भी उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति तो हम माँ-बेटे को करनी ही पड़ती थी। प्रतिष्ठा का प्रश्न आ जाता था न?

क्या करूँ, क्या न करूँ? मस्तिष्क में प्रश्न का तूफ़ान उमड़ता पर उत्तर के लिये मेरे समक्ष अन्धकार ही अन्धकार दीखता।

भैया कान्त!

अन्धकार में ही आशा की एक क्षीण ज्योति दूर, बहुत दूर दीख पड़ती, मैं उसकी ओर हाथ बढ़ाये भागने को उन्मुख होता; पर अन्त में वह ज्योति भी मृग-मरीचिका-सी प्रतीत होने लगती।

सोचने लगता—

उन्होंने मुझे इतना सारा स्नेह जो दे दिया है, वही क्या कम है, मेरे जैसे के लिये? जो कुछ और की कामना करता हूँ? अपनी स्थिति के सम्बन्ध में, उन्हें जिस भ्रम में अब तक डाले हूँ, उसे तोड़ देने का अधिकारी भी तो मैं नहीं!

वे मेरे लिये कर भी क्या सकते हैं ?

दस-बीस कहानियाँ ही तो प्रकाशित हुई हैं मेरी और इतनी भर योग्यता के बल पर मैं यह क्या-क्या सपने देखने लगा हूँ ?—अपने आप पर ही हँस पड़ने को मन होने लगता। जीवन-पथ पर छाया अन्धकार कुछ और गहन हो जाता।

● ●

अक्टूबर या सितम्बर सन् ४९ का महीना था। कान्तजी के सम्पर्क में आये एक वर्ष से भी अधिक हो चुके थे। मेरी अवसादमयी ज़िन्दगी के लिये, 'चिनगारी' और भैया कान्त का विमल-स्नेह, वर-दान बन चुका था।

मन ही मन एक सशक्त अवलम्ब की कल्पना कर लिया था मैंने कि भैया कान्त मुझे डूबने नहीं देंगे, इस जीवन के भयंकर गर्त्त में !

दूकान पर ढेर सारा काम आ पड़ा था; सो भैया के पास बहुत कम जा पाता था। दीपावली-विशेषांक की योजना बन रही थी। चाहकर भी, पिछले वर्ष की तरह मैं इस बार दिलचस्पी नहीं ले पाया।

एक दिन गया तो पता चला उनकी तबीयत इधर खराब हो गयी थी। क़रीब महीने भर से उनसे भेंट नहीं हो पायी थी। प्रेस के एक कर्मचारी गया से, जो मेरे घर के पास ही रहता था—उन्होंने बुलवाया तो मैं भागा-भागा आ पहुँचा। उनकी अस्वस्थता की खबर पाकर उद्विग्न हो गया था।

"मुझे मालूम ही न हो पाया कि आप बीमार हैं ?"

"आप आये ही कहाँ हजरत !" उनके सूखे अधरों पर मुस्कान चमक रही थी—"आपके बनारस में ही मैं बीमार पड़ा रहा। सेठ आदमी ठहरे, मौक़ा भी तो कम मिल पाता होगा...." कहते-कहते वे हँस पड़े, देर तक हँसते ही रहे।

मेरे ऊपर घड़ों ही नहीं, 'तालाबों' पानी पड़ गया था।

मधुर भी पास ही बैठा था। वह बोल पड़ा—"अरे, केशर जी, आप सेठ जी हैं?"

"तब क्या समझता है?" भैया ने समाधान-सा किया।

"अच्छा!" एक बार बोलना शुरू करने पर फिर जल्दी उसकी 'जिह्वापैसेंजर' रुकना जानती ही नहीं थी—"मैं तो समझता था, आप अभी पढ़ते होंगे...."

भैया से मिलने जब जाता था तो ज़रा ठाट-बाट से। इसी से मधुर को शंका हुई होगी कि अभी मेरा विद्यार्थी-जीवन चल रहा है! उसकी इस शंका ने मेरे मन में गुदगुदी-सी भर दी। उस गुदगुदी की सिहरन में डूबा बैठा था और वह बके चला जा रहा था—"इधर आप, इलायची वाला वह मीठा पान-मसाला भी नहीं ले आये। आपकी ससुराल वाले भी इधर कंजूस नज़र आने लगे हैं शायद...."

"ससुराल वाले!" कान्त जी चौंके—"क्या बकता चला जा रहा है, बेवकूफ!"

"और नहीं तो क्या। ससुराल की मिठाइयाँ और आम-सन्तरे खिलाये कितने दिन हो गये? आप भले ही चूक जायँ पर मैंने इस मामले में कभी चूकना सीखा ही नहीं!"

सुनकर मैं भी हँस पड़ा और भैया भी।

दूकान पर छोटी इलायची पर बना हुआ मीठा-पान मसाला बिकता था। अक्सर आते समय उसकी शीशी लेता चला आता था। उस समय मेरी ससुराल से होली, मकर-संक्रान्ति आदि अवसरों पर फल और मिठाइयाँ आ जाया करती थीं। भैया जब बनारस रहते थे तो उनका भी हिस्सा लगाना मैं भूलता नहीं था!

भैया को बुखार आ गया था। अब कुछ ठीक थे।

"केशर जी, आप उपन्यास लिख रहे हैं न?" मधुर ने पूछ लिया।

मैं सकपकाया-सा भैया की ओर देखने लगा—"नहीं तो!"

"क्यों, शुरू तो हो गया था न...." भैया ने झट कह डाला।

"तब आप मुझसे झूठ बोलते हैं?" मेरे कुछ कहने के पूर्व ही मधुर ने कहना शुरू कर दिया—"बताइए न, कितना लिखा गया अब तक....उसका नाम क्या है?"

"अरे, मुझे उपन्यास लिखना ही कब आता है? ऐसे ही सोचा था पर वह सोचना ही भर रह गया...." मैंने अपनी सफाई देनी चाही। पर वह जम न सकी।

"मुझसे बनते हैं आप! इतनी सारी कहानियाँ लिखते चले जा रहे हैं। फिर उपन्यास क्यों नहीं लिख सकते? अरे भाई, बतला देंगे तो छीन थोड़े ही लूँगा!"

"आप अपनी 'तूफान-मेल' को रोकेंगे भी या ऐसी वह चलती ही रहेगी...." कान्त जी ने उसकी मुख-मशीन को ब्रेक-सा देते हुए कहा—"आया था तब तो नयी-नवेली दुल्हन की तरह शरमाता था। अब जब बोलने लगता है तो साँस तक नहीं लेता। अच्छा, मधुर साहब, अपका स्कूल-टाइम हो गया, खिसकिए यहाँ से...."

वह उठा तो सही; पर मुँह गोलगप्पे-सा बना कर।

"आपने नाहक ही बेचारे को डाँट दिया!"

"अजी, माथा खा जाता है। जाने दीजिए। अगला अङ्क दीपावली-विशेषांक है, यह तो आपको मालूम होगा नहीं। अजीब मुसीबत में जान पड़ गयी है। अकेली जान पर इतना बोझ आ पड़ा है कि कभी-कभी तो घबरा जाता हूँ। अभी-अभी बीमारी से उठा हूँ। किसी तरह यह अङ्क तैयार हो जाय तो मिर्जापुर भागने की फिकर लगी हुई

है। वहाँ की व्यवस्था करके जल्दी ही आ जाना है न? नहीं तो विशेषांक की गाड़ी ठप्प ही होकर रह जायगी...."

"मोटा रहेगा न?"

"सोचता तो हूँ....पर देखिए क्या होता है!" उनके स्वर में विरक्ति की झलक पाकर मैं चिन्तित-सा हो उठा। वे थोड़ा रुके; फिर कहने लगे—"क्षण भर को शान्ति नहीं मिल पाती। आराम से लिखता था और अलमस्ती की ज़िन्दगी काटता था पर इस घपले में सब कुछ समाप्त हो गया। 'चिनगारी' ने सच कहता हूँ, मुझे मशीन बना दिया है...."

ऐसी निराशा की बातें उनके मुख से, बहुत दिनों बाद सुनी थीं सो हृदय की धड़कनें तीव्र हो उठीं। बहकती हुई-सी नज़र उनके चेहरे की ओर पड़ी तो लगा जैसे वे श्लथ-से हो रहे हों! आँखों में सदैव चमकने वाला उत्साह, थकन में उभचुभ करता प्रतीत हुआ।

"आप यह क्या कर रहे हैं?" बड़ी कठिनता से कह पाया—"इधर कोई विशेष बात हुई है क्या?"

"विशेष बात क्या होगी!" स्वर में कम्पन था—"चिनगारी मुझे ले बीतेगी केशर भाई! आप मुझसे छोटे हैं। ऐसी बातें करना तो नहीं चाहिए। पर जाने क्यों कह जाता हूँ। बचपन में, अपनी इसी रुचि के कारण, शुद्ध व्यापारी पिता के द्वारा आवारा समझा गया। परिवार ने मुझे बेकार का आदमी समझा। पर मैंने कभी परवाह नहीं की। वातावरण ने जब बहुत घुँटाया तो सारी मोह-माया छोड़-छाड़कर सेना में चला गया; पर इस मन को क्या करूँ? वहाँ पर भी अधिक दिनों जम नहीं सका। घरवालों के मोह ने फिर अपनी ओर खींचा और मैं खिंच भी आया...." वे कहते-कहते रुक गये थे।

यह जानकर थोड़ा संतोष हुआ कि मेरी ही भाँति, परिवार और समाज से संघर्ष के पश्चात् ही उन्होंने भी साहित्य से नेह जोड़ा है।

और आज जब वे सारे चित्र आँखों के समक्ष मूर्त हो आये हैं तो जाने कैसा-कैसा लगने लगा है? साहित्य-साधना के मार्ग में क्या कंटक ही कंटक बिछे होते हैं?

और साहित्य! कंटकों के बीच पल्लवित, गुलाब-सा मोहक-मंजुल साहित्य एक बार मन में रम फिर जनम-जनम का साथी बनकर रह जाता है! मेरा अपना विचार है, संसार के साहित्यकारों से, उनके आरंभिक दिनों की इंटरव्यू ली जाय तो नब्बे-पंचानबे परसेंट रिजल्ट यही निकलेगा—कि 'साहित्य का नशा' प्रकृति-प्रदत्त होता है। साहित्य को कोई चाहता नहीं, उसे चाहना पड़ जाता है। खून लगाकर शहादत में नामोल्लेख करानेवाले 'शौकीनों' की बात नहीं कर रहा हूँ। आदिकवि वाल्मीकि से लेकर, कुशवाहा 'कान्त' तक की शृंखला का एक ही इतिहास तो है!

खैर। होगा।

वातावरण में, बड़ी गंभीरता आ गयी थी।

"आप अब कुछ दिनों आराम कर लें!" मैंने कहा।

"आराम!"

"जी!"

"पर यह अब संभव कहाँ है प्यारे भाई!" वे मुस्कराये, नहीं, मुस्कराने की चेष्टा की—"मेरे आराम को, आपकी यह 'चिनगारी' सौत समझती है। एक म्यान में दो तलवारें कभी रही हैं?"

"फिर भी आपका स्वास्थ्य इधर काफी गिर गया है। न हो तो 'चिनगारी' को कुछ दिनों के लिये बन्द ही कर दें!" उनके उन्मुक्त स्नेह का ही प्रभाव था कि ऐसी-ऐसी बातें उस समय मेरे मुख से बिना किसी प्रयास के निकल रही थीं। वर्ना उनके समक्ष मेरा अस्तित्व, एक नन्हें-से बच्चे के ही समान तो था। मेरी बातें ठीक वैसी ही थीं जैसे

ज़मीन पर टिमटिमाता हुआ दीपक, सूरज को सान्त्वना दे कि 'मत घबरा मेरे भाई, मुझे देख और अपनी जलन को ठंढा कर ले !'

वे कुछ बोले नहीं। चुपचाप कुछ सोचते-से रहे।

"बीमार थे तो...."

"ओह, हाँ, सोचा तो था कि आपको खबर कर दूँ पर नहीं कर सका, यह समझ कर कि व्यर्थ ही परेशान होंगे ! दूकान में मन रम गया था न, खबर पाकर नुकसान ही तो होता...."

सुनकर लगा कि जैसे हृदय को किसी बेदर्द हाथों ने मसल कर रख दिया हो। मेरे प्रति उनका यह भ्रम, कितना त्रास दायक हो जाता था कभी-कभी कि मैं पूँजीवादी हवा में साँस लेने का आदी हूँ !

"मेरा इतना अधिकार भी आप नहीं समझते !"

"ऐसा आप क्यों समझ लेते हैं केशर जी !"

"मुझे 'आप' न कहा करें !"

"अरे, क्यों ?"

"ऐसे ही...."

"अच्छा-अच्छा !" वे मुस्करा पड़े थे—"बहुत भावुक हो तुम भी केशर !" उनके मुख से पहली बार वह अपनत्वस्पर्शी सम्बोधन सुनकर मेरा मन बाँसों उछलने लगा था।

"क्या लिख रहे हैं इधर !" थोड़ी देर बाद उन्होंने कहा तो मैंने बड़ी आतुर दृष्टि से देखा उनकी ओर—"अरे, भूल गया....आदत पड़ गयी है न ? कभी-कभी 'आप' से 'तुम' पर न आ पाऊँ तो क्षमा कर दिया करो भाई !"

कितने विनम्र, कितने महाप्राण थे मेरे भैया !

आने पर 'चिनगारी' के प्रति जो विरक्ति मैंने उनमें देखी थी, वह अब बहुत कुछ छूट गयी थी। आगामी दीपावली-विशेषांक के

सम्बन्ध में, जब वे बातें करने लगे तो पहले की ही भाँति उत्साहित लगने लगे। मैं आशंकित हो आया था सो आश्वस्त हो उठा।

"आपका कोई अच्छा-सा फोटो है?"

"फोटो!—क्या होगा?"

"इस बार दीपावली-विशेषांक में अपने सभी सहयोगी और लेखकों के चित्रों को एक साथ ही छापने का विचार कर रहा हूँ....इस बार कहानियों के शीर्षकों का ब्लाक भी बनेगा....मधुरवा अभी से डिजाइन बनाने में लग गया है। जीनियस लड़का है। इतने थोड़े समय में उसने जो प्रोगेस किया है, वह काफी आशाप्रद है...."

"पर आपका स्वास्थ्य तो...."

"अजी, अब उसकी चर्चा मत करो। तुम-सब के बीच में सब भूल जाता हूँ...."

सच, गहरी से गहरी वेदना में घिरे रहने पर भी, हम सबके बीच आकर स्वाभाविक रूप में उल्लसित हो जाते थे ये। उनके व्यक्तित्व का वह आश्चर्यकारी पहलू भी मैंने देखा है, मरणान्तक पीड़ा के बीच भी उनकी जीवनी-शक्ति की स्वाभाविकता देखकर देखनेवाले विमूढ़-से रह जाते थे। उन्होंने हँसते-मुस्कुराते जीना सीखा था और मौत की विकरालता को भी मुस्कराते हुए ही स्वीकारा था।

"कोई कहानी नहीं लिखी इधर?"

"नहीं!"

"क्यों?"

"ऐसे ही, लिख नहीं सका...."

"डर्टी आदत! नयी क़लम में जंग लग जाती है तो फिर उसे छुड़ा पाना कठिन हो जाता है....जल्दी से एक कहानी लिखकर पहले 'चिनगारी' को दे दो....बाद में औरों को...."

मैं कुछ बोला नहीं।

वे मूड में आ गये थे। हँसते, हँसाते रहे।

अंक तैयार था। उसी रात वे घर जानेवाले थे। लगभग एक माह हो गये थे मुझे खुलकर हँसे। बीते दिनों की सारी घुटन भूलकर उस स्वर्गिक-वातावरण में रम गया। उस दिन दूकान से अपसेंट ही रहा। अशेष भी आ गया। और तब तो मस्ती का तूफ़ान-सा आ गया। शाम को, एक कोई हीरकजी आ गये। लम्बी-लम्बी डिग्रियों से आच्छादित कवि थे। 'चिनगारी' में प्रकाशनार्थ आयी कविताओं का सम्पादन अशेष ही करता था। कविजी के द्वारा भेजी गयी किसी कविता को अशेष साहब ने रिजेक्ट कर दिया था। कान्तजी ने उनकी कविता वापस करते हुए, विनम्र स्वर में असमर्थता प्रकट की। वातावरण में अनायास ही गंभीरता भर आयी थी। हम और अशेष, कवि महोदय की ओर से अपने को मोड़कर उनके साथ ही आये, कहानीकार एवं कवि श्रीबालचन्द्रजी जैन से बातें करने में लग गये थे। जैन साहब बड़े ही अलमस्त तबीयत के आदमी थे। 'चिनगारी' में उनकी कई कहानियाँ छप चुकी थीं।

"अरे साहब, यह तो बतलाइए, मेरी रचना में आपको क्या त्रुटि नज़र आयी!" अपनी कविता पर रिजेक्टेड का लेबिल लगा देख, वे बुरी तरह तमककर बोल उठे।

"कविता में कोई त्रुटि है, यह तो मैंने कहा नहीं। अपनी-अपनी पसन्द है। सम्पादक का इतना अधिकार तो होता ही है।" भैया का स्वर आवश्यकता से अधिक नम्र हो आया था। हमसब भी बातें बन्द करके देखने लगे। अशेष अपनी हँसी दबा न सकने के कारण परेशान हो रहा था। और मामला क्या है? यह समझने में मुझे काफी देर लगी। भाई बालचन्द्रजी, हीरक महोदय को समझाने में लगे थे। मगर लगता था, वे अशान्ति के साक्षात् अवतार बनकर ही पधारे थे।

भैया ने अशेष की ओर देखा तो वह शरारतन हीरकजी की ओर देखकर हँस पड़ा। उसके हँसने ने तो जैसे अग्नि में घृत का कार्य किया। वे बेतरह भभकर 'सीट-अप' हो गये और—"आप सब मेरा मज़ाक बना रहे हैं...."

"हीरकजी, आप कृपा करके बैठ जाइए और...." भैया ने समझाया।

"मेरी कविता में त्रुटि क्या है?" वे तड़पे।

"बैठ जाइए। बतलाता हूँ...." अशेष की बड़ी गंभीर आवाज़ थी। उसकी ओर बड़ी ही बुरी नज़रों से देखते हुए हीरकजी बैठ गये।

अशेष को भी जोश आ गया था। हीरकजी के हाथों से उनकी रिजेक्टेड कविता झपटते हुए उसने सामने मेज पर फैला दी और तब छन्द, भाषा, व्याकरण और भावों की त्रुटियों का एक अच्छा-खासा 'कोश' ही तैयार करने में लग गया।

"आप क्या जानें कविता किसे कहते हैं? हीरकजी बौखलाए—मैंने साहित्य-रत्न किया है....एम्० ए० भी हूँ....आप होते ही कौन हैं मिस्टर!"

"साहित्य के रत्न होंगे आप....हो सकता है एम्० ए० भी हों पर मात्र इसी से हम आपको कालिदास मानने लगें, यह कोई जरूरी है क्या?"

भैया घबरा रहे थे। मुझे आनन्द मिल रहा था। बालचन्द्रजी हीरकजी को सम्हालते और भैया अशेष को; मगर दोनों ही 'पहलवान' 'अखाड़े' के बाहर होने को तैयार ही नहीं हो रहे थे।

"आप होते कौन हैं साहब!"

"मैंने ही आपकी 'सु-कविता' रिजेक्ट की है!" दोनों ही 'सीट-अप' हो गये मगर बात अब आवश्यकता से अधिक बढ़ती जा रही थी इसलिये भैया ने स्थिति को अपने हाथों में कर लिया। बालचन्द्र जी को कवि महोदय की शान्ति के निमित्त काफी परिश्रम करना

पड़ा। भैया ने हीरकजी का गुस्सा ही नहीं उतरा; बल्कि जब वे जाने को उठे तो मुस्करा भी रहे थे। मुझे और अशेष—दोनों ही को उनका 'समझावन-मनावन' सख्त नागवार लग रहा था। अशेष की वैसी 'पहलवानी' बाद में, अनेक बार 'दंगलों' में चमकते देखा मैंने, पर उस दिन की उसकी पैंतरेबाज़ी कमाल की थी, न भूलनेवाली।

उपर्युक्त ही घटना पर भैया ने 'चिनगारी' के 'उड़ते-उड़ते' स्तंभ में 'कपि-जूझे' शीर्षक से एक नोट लिखा था, जो इतना मज़ेदार रहा कि 'हीरक' जी तक पढ़कर हँस पड़े थे। भैया का हास्य-व्यंग्य लिखने का ढंग भी निराला ही होता था। 'चिनगारी' के 'उड़ते-उड़ते' और 'प्रश्नोत्तर' स्तम्भों के संबंध में पुराने पाठकों को बतलाने की संभवतः कोई आवश्यकता नहीं।

'उड़ते-उड़ते' और 'प्रश्नोत्तर' स्तंभ उनकी जादूभरी क़लम के चमत्कार थे—और वही उस समय की 'चिनगारी' के मुख्य आकर्षण भी थे।

'उड़ते-उड़ते' में उनके द्वारा लिखित अधिकांश मैटर अब पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुका है। नये पाठकों के लिये वह मनोरंजन की अच्छी-खासी सामग्री है, अब भी। 'प्रश्नोत्तर' स्तंभ में उनके द्वारा दिये गये उत्तर, कहीं-कहीं तो 'फिल्म इंडिया' के उत्तरों की ऊँचाई को छूते-से प्रतीत होते थे।

आज मानस के तार-तार में समायी भैया की स्मृतियों की झंझा में सचमुच खोता जा रहा हूँ मैं।

लगता है, ऐसे ही लिखता चला जाऊँगा पर वे कभी चुकेंगी नहीं।

● ●

अगला ही अंक विशेषांक था। सितम्बर अंक की छपाई समाप्त हो गई थी। भैया कापियाँ तैयार करवा कर घर चले गये थे।

विशेषांक के लिये उन्होंने बहुत सारी योजनायें मुझसे बतलायी

थीं। मुख-पृष्ठ कलकत्ता से छपकर आनेवाला था। कह गये थे, घर से जल्दी ही लौटकर विशेषांक की तैयारी में लग जाना है। बीमारी और व्यस्तता के कारण 'चिनगारी' के प्रति जो विरक्ति उनमें आ गयी थी, उसका कोई चिह्न शेष नहीं रह गया था।

"लगता है, इस जीवन में न तो मैं 'चिनगारी' से अलग हो पाऊँगा और न ही वह मुझसे...."

"हाँ!"

"आप इस बीच मधुर से मिलते रहेंगे, जब भी मौका मिल सके...."

मैंने हामी भर दी थी।

मैं आकुल-हृदय से उनके बनारस लौटने की प्रतीक्षा करने लगा। यहाँ से घर जाते समय वे पूर्णतया स्वस्थ नहीं हो पाये थे। इससे मैं और चिंतित हो उठा। 'चिनगारी' ने सचमुच उन्हें बैल की तरह खटने को विवश कर दिया था। घर जाकर वे एक पत्र मुझे जरूर भेज दिया करते थे। वह भी नहीं। घबराकर पत्र लिखा—जवाब नदारद। दूकान पर जाता मगर तबीयत जम नहीं पाती। अचानक एक दिन रात को दूकान से घर लौटने पर, मिर्ज़ापुर से भेजा गया एक कार्ड मिला। लाल स्याही से छपा हुआ। पढ़ते ही सिर चक्कर खा उठा। बदहवास-सा हो गया। छपा था—

प्रिय महोदय,

कुछ कारणों से मजबूर होकर 'चिनगारी' का प्रकाशन अनिश्चित काल तक के लिये स्थगित करना पड़ रहा है। जिन ग्राहकों, एजेण्टों, विज्ञापनदाताओं का कुछ भी हिसाब-किताब हो, अविलम्ब सूचित करें। हमारे यहाँ जिनका बकाया निकलता है, उनकी रकम शीघ्र भेजी जा रही है।

—व्यवस्थापक

'चिनगारी' बन्द हो गयी !

आखिर क्यों ?

यहाँ से जाते समय तो ऐसी कोई बात नहीं हुई थी। क्या घर आकर भैया की बीमारी बढ़ गयी ? लगता था, जैसे 'चिनगारी' नहीं बन्द हुई, मेरी आशाओं—छटपटा रही आशाओं का खून हो गया हो। रात क्षणभर को भी नींद नहीं आ पायी।

व्यवस्थापक के स्थान पर शायद के० एन० सिंह का नाम लिखा था उस वज्रपाती कार्ड पर। रह-रहकर उस पर फुँका पड़ता था कि मुझको भी मरदूद ने ग्राहक-एजेण्ट समझ, हिसाब-किताब करने के लिए यह 'कार्ड' भेज दिया। कुछ भी तो साफ़-साफ़ लिखता ! भैया कान्त को भी क्या हो गया, जो स्पष्ट कुछ सूचित करना भूल गये मुझे।

तब वे बुरी तरह बीमार हो गये हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं।

तबीयत खराब न हो गयी होती तो यह सब कभी भी नहीं होता, कभी भी नहीं....यहाँ से गये उनको मुश्किल से दस-बारह दिन हुए थे। और इन दस ही बारह दिनों में क्या से क्या हो गया ?

यहाँ से जाने के पूर्व की उनकी वह विरक्ति रह-रह कर गड़ने लगी। मन काँप-काँप कर रह गया। 'चिनगारी' कभी बन्द भी हो सकती है, इसकी कल्पना ही नहीं की थी मैंने। कार्ड को मैंने सैकड़ों बार पढ़ डाला होगा, पर इससे वह छपा मैटर बदल थोड़े ही जाता।

मिरज़ापुर जाने की सोची। और कोई रास्ता भी तो नहीं था।

कभी गया नहीं था इसीलिये मन हिचकिचाया पर तुरन्त ही दृढ़ हो गया।

सबेरे उठते ही दो शब्दों का एक कार्ड डाल दिया—'मैं आ रहा हूँ।' और जल्दी से दूकान भाग गया। मगर दूसरे दिन दूकान पर कुछ ऐसी गड़बड़ी हुई कि छटपटा कर रह गया, जा नहीं सका।

घर आने पर देखा, माताजी की तबीयत बुरी तरह खराब थी। कुछ समझ में नहीं आया कि क्या करूँ, क्या न करूँ?

तीन दिन बाद, कहीं उनकी तबीयत सम्हली और मैं भागा-भागा बस स्टैण्ड पहुँच, मिर्ज़ापुर जाने वाली बस पर बैठ गया। बस भागी जा रही थी, परन्तु मेरा मन मिर्ज़ापुर में पहले ही जा पहुँचा था। चुनार से आगे बढ़ने पर सम्हला, चैतन्य हुआ और तब अपनी बगल में बैठे एक सज्जन से पूछा—'महुअरिया बस-स्टैण्ड से कितनी दूर है भाई साहब!' पर भाई साहब 'जानकारी' से कोरे निकले। उन्होंने छूटते ही जवाब दिया—'इस नाम का कोई मुहल्ला नहीं है मिर्ज़ापुर शहर में!' मेरे तो जैसे होश ही उड़ गये।

बस रुकी।

इक्केवालों का दल झपट पड़ा।

"महुअरिया....एक सवारी...." एक चिल्लाया।

मेरी जान में जान आई। बस से कूद कर नीचे आ रहा। मेरे बैठते ही इक्केवाले ने अस्थि-पञ्जर मार्का घोड़े की पीठ की मरम्मत शुरू कर दी।

किसी तरह महुअरिया पहुँच ही गया। गाँव में भैया से सब कुश-वाहा'कान्त' के नाम से कम, कामता प्रसाद के नाम से अधिक परिचित जान पड़ते थे—मुझे क्या मालूम? पता लगाने में थोड़ी-सी कठिनाई तो हुई मगर जब मैंने 'चिनगारी' का नाम लिया तो बच्चे तक बतलाने को दौड़ पड़े 'कान्त-सदन।'

थोड़ी ही देर बाद मैं 'कान्त-सदन' के सामने खड़ा था। धड़कनें तीव्र से तीव्रतर होती जा रही थीं। हे भगवान, न जाने क्या देखना पड़ेगा? भैया की जाने कैसी हालत होगी....

खबर भिजवाई, दूसरे ही क्षण दरवाजे पर जे० पी० कुशवाहा का मुस्कराता हुआ-सा चेहरा दीख पड़ा। उनकी वह मुस्कान इतनी पैनी

थी कि पैर अनायास ही वापस लौट पड़ने को हो गये। उस समय के संकोची-स्वभाव का ही असर था, जिससे लगा मुझे कि मैं ग़लत स्थान पर आ गया हूँ! क्षणभर विमूढ़-सा खड़ा उनकी ओर निहारता रहा फिर जैसे किसी अदृश्य हाथों ने धक्का देकर उनके पास कर दिया। मेरी घबराहट देख वे भी परेशान हो उठे किंचित। मेरा उनसे उस समय कोई परिचय तो था नहीं। जाँचने के खयाल से वे अपनी तीखी नज़रों से मुझे बुरी तरह आतंकित कर रहे थे।

'भैया 'कान्त' हैं?' लड़खड़ाते स्वर में, बड़ी कोशिशों के बाद कह पाया।

'जी नहीं, वे तो कल बनारस चले गये!'

उनके उत्तर ने सरेबाज़ार जैसे तमाचा-सा जड़ दिया। उनसे बिना कुछ कहे घूम पड़ा। पैर वेतरह लड़खड़ा रहे थे। निराशा की उस चोट ने अन्दर ही अन्दर मुझे झकझोर डाला था।

'आप आ कहाँ से रहे हैं?'

'जी, बनारस से....' मैंने आगे बढ़ते-बढ़ते कहा—"उनसे मिलना बहुत जरूरी है....जा रहा हूँ....'

"अरे सुनिए तो सही जनाब!" वे सीढ़ियाँ उतरने लगे दरवाज़े की मगर तब तक 'नमस्ते' कह, झपटता हुआ मैं सड़क पर आ रहा।

बारह बज रहे थे। सुबह से एक घूँट पानी भी नहीं पी सका था। मस्तक घूम रहा था कुम्हार के चाक की तरह। भागा-भागा पैदल ही बस-स्टैण्ड पहुँच गया। सितम्बर का सूरज आग बरसा रहा था। हलक बबूल के काँटों की तरह चुभा जा रहा था। बस तैयार खड़ी थी बनारस के लिये। अजीब दशा हो रही थी मेरी। तीन बजे के लगभग मैदागिन पहुँचा और वहाँ से आँधी की तरह बम्बई प्रिंटिंग कॉटेज की तरफ। भैया से मिलने के लिये इतना विकल हो

रहा था कि रिक्शा कर लेने की भी सुध न रही। हो सकता है, उस समय रिक्शा करने की इजाजत जेब-बैलेंस ने भी न दी हो!

रविवार था। प्रेस का दरवाजा बन्द मिला। बुलाने की कोशिश की पर सफलता नहीं मिल पायी। मेरे पैर लड़खड़ा उठे। विचित्र-सा नशा सवार था मेरे सिर पर। धूप और लू में शरीर ही नहीं हृदय तक झुलस गया था न?

बाँसफाटक रोड की एक बन्द दूकान के तख्ते पर बैठ गया तो न जाने कब उसी पर सो गया और एकाएक जब आँखें खुलीं तो पाँच बज रहे थे। दौड़ा-दौड़ा फिर प्रेस पहुँचा। दरवाजा खुला था और सामने कुर्सी पर भैया बैठे थे। पास ही के० एन० कोई दवा मिला रहा था शीशी में। मेरे सूखते हुए गले में विद्युतगति से तरलता नाच गई और—"भैया, कैसी तबियत है आपकी...."

मुझे देखते ही हड़बड़ाकर उठ पड़े वे—"अरे, आप...." मैं धम्म से कुरसी पर गिर पड़ा। आँखें अपने आप ढँप गयीं।

"मेरे यहाँ आने का समाचार तो मिल गया था न?...." वे धीरे से उठकर मेरे पास चले आये—"गया प्रसाद से आते ही कहलवा दिया था....कैसी दशा बना ली है....कहाँ से भागे चले आ रहे हैं?" एक ही साँस में न जाने कितने प्रश्न कर डाले उन्होंने।

"महुअरिया से!" आँखें बन्द किये-किये ही कह दिया मैंने।

"महुअरिया से....इस धूप में!" चौंक पड़े वे।

"जी, आपकी तबीयत थी न भैया! और यह कार्ड...." कहकर मैंने वह छपा कार्ड उनके सामने कर दिया।

"ओह!" चीख-से पड़े वे—"मेरे लिये कितनी तकलीफ उठाई आपने! वहाँ घर पर किसी ने रोका भी नहीं....उफ़!"

उनका स्वर काँप-काँपकर रह गया था। मुझे आज भी याद है, कहने के बाद उनकी आँखों में स्नेह और ममत्व का जो पारावार

उमड़ आया था उसने मुझे स्फुरण से भर दिया था। रास्ते की परेशानियों का अहसास तक नहीं हो रहा था।

"आप ठीक हैं न भैया!" मैं रो पड़ने को हो गया।

उन्होंने खींचकर मुझे कलेजे से लगा लिया—"मेरे लिये तुम इतना व्याकुल हो गये थे केशर! मेरे भाई!"

"आपने वह कार्ड मेरे पास भिजवाया ही क्यों था भैया!"

सारी ग़लती के० एन० सिंह की थी। वे उसे खरी-खोटी सुनाने लगे। अपनी ग़लती का परिणाम सामने देख रहा था; इसलिये बेचारे के मुँह एक शब्द तक नहीं फूट पाया।

यहाँ से घर जाते ही अचानक उनकी तबीयत बड़ी खराब हो गई। बीमारी से मस्तिष्क ठिकाने न रहा। साथ ही उसी समय कुछ ऐसी परिस्थितियाँ भी सामने आ गयीं कि विवश होकर उनको 'चिनगारी' का प्रकाशन स्थगित कर देने का निर्णय करना पड़ा। सूचना के कार्ड छपवा लिये गये। परन्तु जब कार्ड पोस्ट होने को हुए तो उनका हृदय छटपटा उठा। अपने लहू से सींची गई 'चिनगारी' की मौत बर्दाश्त नहीं कर सके वे और तब तुरन्त ही सारे के सारे कार्ड फाड़कर फेंक दिये गये। वे कार्ड और कहीं तो भेजे न जा सके पर के० एन० की 'कृपा' से मुझ जैसे तीन-चार को अवश्य ही परेशान होना पड़ा और उनकी नज़रों में कुछ घंटों के लिये 'चिनगारी' बन्द हो ही गयी! बाद में पता चला, अशेष और मधुर की संख्या भी मेरी ही तरह परेशान होनेवालों में थी। शीघ्र ही भैया बनारस न आ जाते तो उन बेचारों को भी मिर्ज़ापुरी धूल फाँकने को विवश हो जाना पड़ता।

"के० एन० देखा तुमने! अपनों की यही पहचान है। कुछ अपने ऐसे भी हैं मेरे कि अगर मेरी मौत का समाचार पा जाँय तो

उस 'टेस्ट' को चेंज करने के लिये सिनेमा जाने का प्रोग्राम बनाने लगें !" उनके स्वर में बड़ी ही गंभीरता थी।

संकेत किसकी ओर था, यह मैं जान नहीं पाया।

पर इतना तो स्पष्ट हो ही गया कि उनके कुछ 'अपनों' ने ऐसी चोट पहुँचायी है, जिसने उन्हें विचलित कर दिया है।

"केशरजी, आपने कुछ खाया-पिया भी नहीं होगा ?" के० एन० सिंह ने अपनी शंका प्रकट की तो वे बेतरह बिगड़ पड़े उस पर।

"हाँ, बेचारे की पकवान खाने की स्थिति ही थी न—देख नहीं रहे हो ! केशर भाई, आज अपनी निष्कपट-भक्ति का तुमने जो उदाहरण दिया है, वह मैं कभी भी भूल न पाऊँगा। तुम मुझे इतना चाहते हो, सच कहता हूँ, मैंने सोचा तक नहीं था।"

"भैया !"

"अब जल्दी से हाथ-मुँह धोकर रेडी हो जाओ, तब बातें होंगी आराम से। निश्चिन्त हो, 'चिनगारी' निकलेगी...."

मैंने संतोष का एक दीर्घ निश्वास लिया।

दीपावली अङ्क निकला और शान से निकला। अस्वस्थता और मानसिक उद्वेगों के बीच भी भैया असाधारण रूप से उत्साहित हो रहे थे।

मुझे खूब याद है—

मेरा कुम्हलाया मुख धुलाते और इसके बाद, जलपान कराते समय वे रह-रहकर विह्वल हो जाते थे।

"अजीब पागल आदमी हो, 'चिनगारी' बन्द ही होने का समाचार तो मिला था। इसी के लिये इस भयङ्कर धूप में मिर्ज़ापुर दौड़े चले गये। कहीं मैं मर गया होता तो क्या करते...."

मैं चीख उठा—"भैया !"

"पगले, अगर लू लग जाती तो क्या होता ?" उन्होंने मेरे खुले

मुँह में, दोने मे मिठाई उठाकर ठूँस दी और—"घर पर तुम्हें किसी ने रोका भी नहीं?"

मैं चुपचाप बैठा खाता जा रहा था।

"जग्गन मिला था न?"

"हाँ, शायद वही थे!" मैंने थोड़ा अटकते हुए कहा।

"उसने रोका नहीं?"

"मैं रुका ही कहाँ?" मैं कहने लगा—"मगर भैया, जाने क्यों जग्गन जी मुझे अजीब-से लगे। बड़े रूखे से, बड़े रोबीले। उन्होंने कुछ इस अन्दाज़ से, मेरा नाम और आने का कारण पूछा कि सच बताऊँ, शक हुआ कहीं किसी पुलिस इंसपेक्टर के सामने तो नहीं खड़ा हूँ...." एक ही साँस में कह डाला मैंने।

"अरे, नहीं। चलती नज़र में वह ऐसा लगता ही है। मिर्जापुरी-लेखकों के मारे नाक में दम रहती है इसलिये उसका यह रोब बड़े काम आता है। उसे तुमने अपना नाम बतलाया ही नहीं होगा। नहीं तो इतनी धूप में आने थोड़े ही देता!"

"वे मुझे जानते ही कहाँ हैं?"

"खूब जानता है। केशर की खुशबू से 'चिनगारी' का कोना-कोना परिचित हो गया है। मगर तुम हो कि अपना वजन ही नहीं जानते!"

इस बीच के. एन. सिंह मेरे लिये पानी-पान की व्यवस्था में, कमर कसे दौड़-धूप कर रहा था। बेचारा पान लेकर बाहर से आया तो भैया फिर उसे लताड़ने में लग गये।

"के. एन., तुम्हारी और अक्ल की जो दुश्मनी बढ़ती चली जा रही है, वह नाक़ाबिले बर्दाश्त है। अबे, सबसे पहले केशर ही निशाना लगाने को रह गया था? जरा दिमाग़ खँरोंच कर याद करो कि और किन-किन के साथ यह अहमकपन किया है तुमने?"

और वह 'ही-ही-ही' में सब कुछ गटके चला जा रहा था।

शाम को—

घर जाने लगा तो भैया और के. एन. मेरे साथ ही थे। रामापुरा वाली गली के मोड़ पर मेरे कन्धों को अपने दोनों हाथों से पकड़ कर भैया ने कहा था—"केशर, मेरे भाई, हमारे बीच में अपनत्व का जो कच्चा धागा जुटा था वह अब रेशमी हो गया है। अपनों की पहचान ऐसी ही स्थिति में तो होती है!" कहते-कहते उनकी आँखें भर आयी थीं।

मैंने झुककर उनके पैर छू लिये थे—"मैं आपका छोटा भाई हूँ भैया!" पीठ पर भैया की उन स्नेहमयी थपकियों की मार्मिक अनुभूति मैं क्या कभी भूल पाऊँगा?

"अच्छा, अब सीधे घर चले जाओ!" कहते हुए वे गली में मुड़ गये—"और देखो, आज घर से बाहर मत निकलना....कल सवेरे आना जरूर। भला!"

भरा-भरा, उमगा-उमगा मन लिये मैं आगे बढ़ गया।

'जब चिनगारी बन्द हो गयी थी....' और मैं भैया कान्त के अत्यन्त निकट आ गया था—सोच-सोचकर रोमांच हो आता है।

• •

भैया की साधना का बल पाकर 'चिनगारी' ने देखते ही देखते हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया। मार्केट में 'चिनगारी' के नाम का आतंक-सा छाने लगा। वह अगर दस हज़ार प्रतियाँ छपी है तो लोगों ने उसकी खपत का अनुमान चालीस हज़ार लगाया है। मैंने इलाहाबाद की एक ऐसी पत्रिका के मालिक को 'चिनगारी' से आतंकित होता देखा है, जिसकी खपत 'चिनगारी' की चौगुनी तो रही ही है। एक शेर अगर मेमने को

अपना प्रतिद्वन्द्वी समझने लगे तो वह मेमने का चमत्कारपूर्ण और असाधारण सौभाग्य ही कहा जायगा! भैया की अपूर्व साधना ने चिनगारी को यह सौभाग्य तो दिला ही दिया था, इसमें सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं।

और मैं था कि 'चिनगारी' की प्रगति के एक-एक चरण पर झूम-झूमकर रह जाता! जाने क्यों?

'पपिहरा' के बाद 'लाल-रेखा'-विशेषांक ने तो 'चिनगारी' को एकदम आसमान में उठा दिया।

हिन्दी कथा-साहित्य में शायद ही कोई ऐसी पुस्तक हो, जिसके चार-चार संस्करण मशीन पर छपते ही छपते हुए हों! भैया की उपन्यास-कला ने 'पपिहरा' में एक नया मोड़ लिया था और उस मोड़ ने 'लाल-रेखा' में एक इतने विस्मयकारी प्रतिमान का निर्माण किया कि सभी ने दाँतों तले उँगली दबा ली।

दुर्गाप्रसाद जी खत्री के लोकप्रिय उपन्यास 'रक्त-मंडल' जैसे अपूर्व जासूसी-वैज्ञानिक-क्रान्तिकारी उपन्यास के बाद, संभवतः भैया के 'लाल-रेखा' में ही पहली बार, उत्कृष्ट जासूसी कैनवास पर देश-भक्ति और मानव-मन का मर्मस्पर्शी निरूपण प्रस्तुत हुआ था। खैर।

जाने ऐसी क्या बात आ पड़ी थी कि बहुत चाहकर भी भैया से मिलने में असमर्थ ही रहा। इस समय याद नहीं आ रहा; पर रही होगी वही मामा की कड़ाई, पारिवारिक-समस्याओं-दुश्चिन्ताओं की आँधी। मेरी सात पुश्तों में कोई साहित्यकार तो दूर, 'प्रूफरीडर' तक नहीं हुआ था और मैं था कि सम्पादक तक होने का स्वप्न देखा करता। लेखक बनने की लियाकत तो 'आपनी ही कृपा' से पा चुका था! आधा पेट खाकर, मैले कुचैले-गूदड़ लपेटकर भी तिजोरी में नोटों की संख्या बढ़ानेवाली वणिक-वृत्ति को घुट्टी के साथ ही पिलाने के हिमायती अपने रिश्तेदारों ने जब देखा कि मैं, अखबारों में

नाम छपवाने का शौकीन बनकर बेहाथ हो रहा हूँ तो बौखला-से गये। और उनकी बौखलाहट ने, पूरी शक्ति के साथ मेरे अन्तस् के 'शिशु साहित्यकार' की 'हत्या' करने का संकल्प कर लिया था। मेरी अपनी माँ तक 'हत्यारिनी' बनने को बड़े 'उत्साह' के साथ आमादा हो गयी थी। मेरे अभाग्य और परिस्थितियां ने उन्हें 'प्रोत्साहित' भी कम नहीं किया....हाँ तो, मैं उस समय जीवन-मरण के घोर संघर्ष में पड़ गया था।

भैया कान्त का विमल-स्नेह !

भविष्य के रंगीन सपने !

चिनगारी-परिवार का सदस्य होने का दुर्लभ गौरव—सब कुछ भूल गया था। दिन भर हल्दी-मिर्च के गर्द-गुबार में घुटता था, रात भर अपनी विवशता पर सिर धुनता रहता।

मन में विद्रोह सिर उठाता मगर तुरन्त ही जीवकोपार्जन की तलवार, उठे सिर को कलम कर देती। इस बीच भैया कान्त का न तो कोई पत्र ही आया न ही कोई समाचार। सोचा, भूल गये होंगे।

एक दिन—

दूकान के नीचे, सड़क पर खड़ा, नेकर और गंजी पहने कोई काम कर रहा था कि—"अरे, केशरजी !" आवाज़ की गोली-सी लगी। पलट कर देखा तो रिक्शे पर भैया कान्त और मधुर !

मधुर जल्दी से मेरे पास आकर खड़ा हो गया।

मेरी आँखें, सड़क की धूल में जैसे कुछ खोजने का प्रयत्न करने लगी थीं।

"केशरजी, यही आपकी दूकान है ?" मेरी 'शानदार' वेश-भूषा को, आश्चर्यभरी आँखों से देखता हुआ मधुर कहे जा रहा था और मैं स्टैचू-सा खड़ा हुआ था।

"केशर !" भैया भी रिक्शे से उतरकर मेरे पास आ गये और

धीरे से मेरे कन्धे पर अपना हाथ रख दिया उन्होंने—"मुझे पहचानते तो हो ?"

"भैया !"

"हाँ, अब आये हो रास्ते पर !" दूकान के पटरे पर बिछे गन्दे-से बोरे पर बैठ गये वे—"यही है तुम्हारी दूकान !"

"जी !"

"अच्छा-अच्छा, पहले यह बतलाओ कि इतने दिनों से तुम्हारे दर्शन क्यों नहीं हुए ? क्या बहुत जल्दी डालमिया बन जाने की योजना बनाई है ?"

"अरे, महाराज, ज़रा दूकान के ऊपर आ जाइए और अपनेराम को इलायची-विलायची चखाइए। इस सर्दी में, गंजी और नेकर पहने 'पहलवानी' दिखला रहे हैं, बाबा रे बाबा !" मधुर ठठाकर हँस पड़ा। मैं झेंप गया।

दूकान पर मैं ही अकेला था उस समय।

"केशरजी, आपको मालूम तो होगा नहीं कि अब 'चिनगारी' का यहीं, आपकी बगल में अपना ऑफ़िस हो गया है।"

"कहाँ ?"

"जालपावाली सड़क से आगे...." मधुर ने पता बताते हुए कहा—"आप तो ऐसा गायब हुए इधर कि बस....कब आ रहे हैं ? आज ?"

"नहीं, कल आऊँगा !"

भैया उठ पड़े, मेरी ओर घूरकर देखा उन्होंने। क्षण भर जाने क्या पढ़ते-से रहे; फिर—"कल मौक़ा मिले तो आना अवश्य। कम-से-कम अपने आफ़िस को देख तो लो। मैं प्रतीक्षा करूँगा। समझे !"

मैंने उन्हें मुट्ठी भर इलायची दी, पर उसमें से दो ही चार दाने लेकर बोले—"इतना क्या होगा। दूकान पर कलाकारी-मूड उतारकर बैठा करो...."

"नहीं, केशरजी, इन्हें बकने दीजिए....इलायची इधर लाइए.... कलाकार स्वर्गीय होने के बाद भी कलाकार ही रहता है...." मधुर ने इलायची जेबस्त करते हुए कहा—"अशेषजी भी यहीं आ रहे हैं, समझ गये ?"

"अच्छा !"

"अजी, आप आइए तो सही...."

और भैया, मधुर के साथ चले गये। उनके जाने के बाद, दूकान मुझे नरक-सा लगने लगा। अब तो भैया पास ही आ गये हैं, मेरे प्रति उनका भ्रम अधिक दिनों तक क़ायम थोड़े ही रहेगा ? आते-जाते रोज ही देखेंगे और तब क्या सोचेंगे ?

पसीने-पसीने हो गया।

मधुर को उनके इतना निकट देखता और फिर अपने घुटनमय जीवन से उसकी तुलना करने लग जाता।

अन्तरात्मा चीत्कार उठी—

नहीं, अब और अधिक नहीं।

भैया मुझे इस नरक से छुटकारा अवश्य दिला देंगे। एक बार उनसे कहकर तो देखूँ।

अपने केशर के लिये वे कोई न कोई मार्ग ऐसा अवश्य बना देंगे जिस पर चलते हुए अपना और अपने आश्रितों की 'पेट-पूजा' कर सकूँ !

मैं भी उपन्यास क्यों नहीं लिख सकता ?

और बहुत दिनों के बाद, प्रारम्भ करके छोड़ दिये गये अपने उस उपन्यास की याद हो आयी, जिसे भैया के उत्साहित करने के बाद आरंभ कर दिया था।

इन्हीं सब द्वन्द्वों में रात के ग्यारह कैसे बज गये, पता ही नहीं चला। घर पहुँचा तो आकस्मिक रूप में जो उत्साह दूकान पर उमड़

आया था, तिरोहित हो चुका था। माँ को दूकान करने में आँख में रोशनी के अभाव से अब बहुत कष्ट होने लगा था। रोज ही, घर आने पर पता चलता, आज रास्ता चलते कहीं ठोकर खाकर गिर पड़ी थी या कि कोई न कोई सामान गिरकर बरबाद हो गया।

देखता, सुनता और तब आँखों से आँसू नहीं, लहू चू पड़ता था।

'चिनगारी' का अपना कार्यालय हो गया है। प्रेस होनेवाला है.... क्या भैया मेरे लिये कुछ नहीं करेंगे?

जीवन के उस गहन अन्धकार में आशा की ज्योति मैं तब बहुत स्पष्ट, बहुत निकट अनुभव करने लगता।

माँ कहती—

"बेटा, मेरे सहारे का भरोसा अब मत करो....मैं थक चुकी हूँ.... आँखों ने धोखा दे दिया है....काम-काज में मन लगाओ...."

और अन्तरात्मा की पुकार होती—

"नहीं....नहीं....'काम-काज' में मेरा अस्तित्व समाप्त हो जायगा.... मैं दूकानदारी और बैल की ज़िन्दगी में घुटने के लिये नहीं हूँ....मुझे लेखक बनना है....साहित्य से नेह लगाना है....केशर, किस विभ्रम में पड़ा है! कान्तजी तुझे इतना प्यार करते हैं....तुझे चिनगारी-परिवार का एक अंश मानते हैं....उनके भ्रम को तोड़ डाल....वे तुझे अपनाएँगे....तू एक बार अपने को खोलकर उनके समक्ष प्रस्तुत तो कर...."

और मैं अपने को अधिक रोक भी न पाया।

● ●

आँधी के बीच पड़े सूखे पत्ते-सा अशेष 'चिनगारी' की गोद में पुनः आ पड़ा था। वह अपना सारा समय 'चिनगारी' को देने लगा था। सम्पादक में उसका नाम भी प्रकाशित होने लगा था।

दूकान में रमा मन फिर उखड़ चुका था मेरा।

घर से दूकान के बहाने, 'चिनगारी' पहुँच जाता और 'सम्मोहन की एक लहर में थका मुसाफ़िर सो गया'-सी अवस्था में दिन बिता देता। प्रेस के लिये मशीनों की खरीद के लिये जगनजी (जयन्त भाई) कलकत्ता गये और वापस आये तो भयंकर रूप में बीमार होकर।

नयी-नयी व्यवस्था थी—

भैया कान्त की परेशानियों की इन्तहा न थी।

मिर्ज़ापुर में जगनजी की तबीयत दिन पर दिन खराब होती गयी। भैया बनारस में बैठे-बैठे परेशान होते और जब परेशानी, चिन्ता और आशंका से विकल हो जाते तो घर पहुँच जाते।

वहाँ की व्यवस्था ठीक-ठाककर फिर भागम-भाग में ही उन्हें बनारस लौट आना पड़ता।

मशीनें फिट होती रहीं।

एक दिन गया तो भैया नहीं थे। अशेष और मधुर बैठे एक अपरिचित-से दीखनेवाले व्यक्ति से घुल घुलकर बातें करने में लगे थे। मुझे देखते ही अशेष बोल उठा—"अरे आओ सेठजी, तुम्हारी ही कमी रह गयी थी...."

अशेष ने अपरिचित-से लगनेवाले व्यक्ति से मेरा शेकहैंड कराया—"सावधान!—आप हैं, श्री त्रिलोचन शास्त्री....हिन्दी के पुराने आशिक़। और शास्त्री जी, आप हैं, चिनगारी परिवार के एक लटकन और कहानी के भयंकर लिक्खाड़ सेठ हल्दी-धनिया-मिर्चावाले श्रीमान् ज्वालाप्रसाद 'केशर'...."

ठहाकों से सारा हाल गूँज उठा। आदरणीय शास्त्रीजी से वह 'शेकहैंड' मेरे लिये कितना मूल्यवान साबित हुआ!—इसे आज भी अनुभव करके, उनके प्रति श्रद्धावनत हो जाता हूँ।

अशेष के आ जाने से, चिनगारी कार्यालय में काशी के साहित्य-

कारों का आगमन अक्सर ही होने लगा। आदरणीय शंभूनाथसिंह, मोहनलाल गुप्त, शंकर शुक्ल इत्यादि से परिचित होने का सौभाग्य उसी समय मिला था मुझे।

शास्त्रीजी तो प्रायः नित्य ही आ जाया करते थे।

काशी के साहित्य-समाज से भैया 'कान्त' का इसके पूर्व कोई लगाव नहीं हो पाया था। अशेष ने, उन्हें भी विवश किया कि अपनी संकोची-वृत्ति को त्यागकर ज़रा बनारसी-साहित्यिक-मण्डली का 'टेस्ट' लें। वह अपने प्रयत्न में सफल भी हो रहा था कि 'चिनगारी' से स्वयं पृथक् हो गया।

भैया और उसके बीच सम्पादन सम्बन्धी विचारों में मतभेद हुआ था। मुझे अत्यन्त खेद हुआ, आश्चर्य भी कम न हुआ। परन्तु भैया ने सब कुछ बड़ी शान्ति और धीरज से स्वीकार कर लिया।

अशेष पागल तो नहीं हो गया है?

भैया जैसे देव-तुल्य व्यक्ति से बार-बार का उसका यह विरोध मुझे बड़ा ही अज़ीब लगता था। खैर।

जग्गनजी की तबीयत क़रीब दो महीने तक बुरी तरह खराब रही। बीच में तो उनकी बीमारी ने चिन्ताजनक रूप ले लिया था। धीरे-धीरे वे स्वस्थ होते रहे और इधर 'चिनगारी' प्रेस का कार्य भी आरंभ हो गया।

'चिनगारी' अब अपने निजी प्रेस से छप रही थी।

भैया आफ़िस में भूत की तरह कार्य-रत रहते। प्रेस और कार्यालय की नयी व्यवस्था को जमाने में, उन्होंने जितना परिश्रम किया था, उसे देखनेवाले अनेक व्यक्ति आज भी हैं और वे उनकी उस लगन की चर्चा करते चमत्कृत रह जाते हैं।

अकेले ही जितना कार्य, भैया बड़ी सहजता से कर डालते थे,

उतना काम बाद में, हमारा दुखियों व्यक्ति का 'चिनगारी-स्टाफ़' मुश्किल से कर पाता था।

मधुर अब उनके साथ ही रहने लगा था।

अनेक बार निश्चय करके भैया के पास गया कि आज, उनके समक्ष अपने अन्तस् का सारा अवसाद खोलकर रख दूँगा। पर जाने क्यों, कहते-कहते कोई स्वर को बाँध लेता था। वे देखते और चौंक पड़ते।

"क्या बात है?"

"कुछ नहीं!"

"मैं समझ गया...." तब तक मधुर कह उठता—"केशर जी आपसे यह कहना चाहते थे कि...."

मेरी धड़कनें तीव्र हो उठीं।

मधुर मेरे झेंप रहे चेहरे की ओर आँखें गड़ाकर कर देखता रहा और—"इनका उपन्यास समाप्त हो गया है!"

मैं एक लम्बी साँस लेकर रह गया। भैया हँस पड़े।

और मन का आलोड़न दबाने की चेष्टा करने में लग जाता मैं। बात जहाँ की तहाँ रह जाती। मिर्जापुर से परिवार के थोड़े-से सदस्य आ गये थे। खाने-पीने की बड़ी असुविधा होती थी न! जग्गन जी की तबीयत ठीक हो गयी थी और जल्द ही वे भी मिर्जापुर से बचा-खुचा परिवार लेकर यहीं स्थायी रूप से रहने के लिये आ जाने वाले थे।

प्रेस तेजी से काम करने लगा था।

एक दिन जब असह्य हो गया तो मैंने एक लम्बे पत्र में अपनी सारी स्थिति स्पष्ट करते हुए, उस नरक से उबार लेने की प्रार्थना कर दी। पत्र लिख तो दिया पर उसे पोस्ट करने में बीसो दिन लग गये। इस बीच उनसे कई बार मिल चुका था पर पत्र घर ही पर रखा रह गया। उसे पोस्ट करने का साहस ही नहीं हो पाता था, जाने क्यों!

असल में मेरा बचपना ही था जो इतने सङ्कोच में डाले हुए था। मैंने तब तक उनके हृदय की विशालता को पहचाना ही नहीं था।

मामा ने मेरे बहकते मन को बाँधने के लिये, काम का बोझ लाद दिया था। वह काम भी क्या था?....आज अपनी उस स्थिति का स्मरण करता हूँ तो रोमांच-सा हो आता है। तीस रुपये महीने वे जो पारिश्रमिक मुझे देते थे, उसी पर तीन-तीन प्राणियों का जीवन अवलम्बित था। और यही कारण था कि अपने विद्रोही मन की छटपटाहट को निर्दयतापूर्वक मसल ही देना होता था।

रात-रात भर जाग कर 'चिताएँ' पूरा करने में लगा रहता और दिन भर दूकान पर तन-तोड़ परिश्रम करता। उन दिनों की याद, आज हूक बनकर प्रकट होने को मचल उठी है तो उसे रोकना भी नहीं चाहता मैं।

जो मन में आता था, लिखता था। ऐसी ही 'मनमानी' को कुछ पत्र-पत्रिकाओं ने प्रकाशित करके उस पर अपनी मुहर-सी लगा दी थी। वह मनमानी थी, मेरी कहानियाँ—और उसी के चलते अपने को 'कहानीकार' मानने लगा था। यह सब कैसे हो गया? यह सोचने-समझने का न तो अवसर ही था और न ही आवश्यकता। आज कलम से 'खिलवाड़' करते बारह-तेरह बरस हो रहे हैं, मगर कभी किसी ने मुझे यह नहीं बतलाया कि—देखो, ऐसे लिखो, ऐसे लिखा जाता है। तुमने जो लिखा है, उसमें यह त्रुटि है, वह गड़बड़ी है। उसे ऐसे ठीक कर लो!

एक बार मधुर ने मुझसे पूछा था—

"केशर जी, आपको कहानी लिखना किसने सिखलाया था?"

"किसी ने नहीं।"

"झूठी बात। बिना सिखलाये, बिना किसी गुरु के कोई लेखक कैसे बन सकता है? आपका कोई न कोई गुरु तो अवश्य ही होगा...."

उसे विश्वास ही नहीं हो रहा था। मधुर उस समय कहानी लिखने का बड़े मनोयोग और परिश्रम के साथ अभ्यास कर रहा था। मेरे अपने आरम्भिक अनुभवों से लाभ उठाने की उत्सुकता होनी अस्वाभाविक भी तो नहीं थी।

"सच कहता हूँ यार, पढ़ते ही पढ़ते लगा कि मैं भी लिख सकता हूँ और लिखना शुरू कर दिया...." मैंने उससे बतलाते हुए कहा था—"विश्वास करो, मैं ऐसे ही लिखने लग गया...."

"पर आपकी तो बहुत-सी कहानियाँ छप गयी हैं...."

"हाँ!"

"तो क्या बिना किसी के सहयोग से?"

"बिल्कुल। तुम्हारे बेढब जी ने सबसे पहले मेरी कहानी छापी थी और यह जानकर भी तुम्हें आश्चर्य होगा कि अब तक बेढब जी मेरी सूरत से परिचित नहीं हैं...."

"अरे!"

"हाँ!" मैंने जो कुछ सत्य था, वह सब उसके समने प्रकट कर दिया—"भैया से बहुत चाहा कि कुछ बतलायें मगर हर बार टाल जाते हैं वे। उन्हें गुरु मानता हूँ मगर वे मुझे अपना शिष्य स्वीकार करना ही नहीं चाहते।" स्वर में ईषत् तीव्रता आ गयी थी। मधुर के साथ वे इतना परिश्रम करते थे कि न चाहते हुए भी कभी-कभी बड़ी झुँझलाहट होती थी देखकर।

"वे आपको बतलायें भी क्या?"

"क्यों?"

"आप तो खुद सिखे-सिखाये हैं। इतनी अच्छी कहानियाँ लिख लेते हैं। अब आपको सीखने की आवश्यकता भी क्या है?"

यही 'सर्टिफिकेट' भैया से भी पाया था और मधुर भी यही कह रहा है। सच कहता हूँ, मधुर से भैया के द्वारा मिले उस

'सर्टिफिकेट' की ताईद पाकर गर्व की एक लहर लहरा गयी थी मन में। और आज, अनुभव बतलाता है, साहित्यकार का वास्तविक बल अपना ही होता है। दूसरों का अवलम्ब तो उसकी 'पालिश' भर का रोल अदा कर पाता है!

"मधुर, मैं सोचता हूँ, दूकान का काम छोड़-छाड़ दूँ!"

"अच्छा तो है। मैं देख चुका हूँ, आप 'बोर' हो जाते हैं। मारिये गोली उस झमेले को और लिखने में भिड़ जाइए...."

"पर...."

"पर क्या?"

फिर सहसा ही ख्याल हुआ कि मधुर अभी बच्चा है। जीवन को उसने न तो देखा है और न ही उसको विकटता का अनुभव करने का अवसर मिल पाया है उसे। ऐसी बातें, उससे करना ठीक नहीं। तभी भैया आ गये। हम तीनों सिनेमा चले गये। उस दिन, भैया के साथ पहली बार सिनेमा गया था। रफ्ता-रफ्ता मेरी ज़िन्दगी उठ रही थी। उठते-उठते वह कभी उड़ने भी लगेगी, यह अहसास मुझे विह्वल बनाये दे रहा था।

● ●

भैया को लिखा वह पत्र—अपना ज़िन्दगीनामा—वैसे ही रखा था। जीवन के संघर्ष में, मेरी सारी 'वीरता' अब परांगमुख होती जा रही थी और मैं थका-थका उसकी ओर हसरतभरी निगाह से देखकर एक ठंढी साँस ले लेता था।

परन्तु मुझे निर्णय कर ही लेना है!—क्रमशः दमघोट होती परिस्थितियों ने सावधान किया और तब बड़े साहस, बड़े प्रयत्न से उस पत्र को पोस्ट कर दिया। दूसरे दिन आशंकित-सा दूकान गया। वह पत्र अब तक भैया को मिल गया होगा और उनकी ओर से कोई

'रिटर्न' बनकर आने ही वाला है। क्या होगा?—सोच-सोचकर अकुलाता रहा। मेरी वही दशा हो गयी थी, जो खून के किसी अभियुक्त की अपने फैसले की प्रतीक्षा करते समय हो जाती है!

और शाम को जब त्रिलोक (भैया का ज्येष्ठ पुत्र) आकर दूकान के सामने खड़ा हो गया तो मेरी धड़कनें भयंकर रूप से तीव्र हो उठीं।

"चाचाजी!"

"कहो...."

"पिताजी ने यह दिया है...." और उसने एक लिफाफा मेरी ओर बढ़ा दिया—"आपकी दूकान यही है?"

"हाँ, बेटा!" मैंने वह लिफाफा ले लिया और जल्दी से बोला—"उन्होंने और कुछ तो नहीं कहा है बेटा!"

"नहीं।" वह दूकान की ओर कौतुकभरी दृष्टि से देखता हुआ बोला—"अब तो मैं रोज आया करूँगा। मसाला-वसाला आप ही की दूकान से ले जाया करूँगा!" वह जाने क्या-क्या कहता रहा मगर मेरे कानों में तो साँय-साँय हो रही थी। मुझे प्रणाम करके वह चला गया। मगर मेरी हिम्मत लिफाफा खोलने की नहीं हो पा रही थी। अन्त में किसी तरह खोला और देखा तो एक चिट पर तीन-चार पंक्तियाँ लिखी थीं—

'दूकान से फुरसत पाते ही मुझसे अवश्य मिल लो। बहुत जरूरी काम है....'

बस, इतना ही।

पत्र मिल गया है या नहीं?—उससे कुछ भी प्रकट नहीं हो पा रहा था। तब? उन्हें मुझसे क्या काम आ पड़ा है?—समझ नहीं पाया तो घबरा गया।

रात ग्यारह बजे दूकान बन्द हुई तो धड़कता हुआ दिल लिये कार्यालय पहुँचा। दरवाजा खुला हुआ था। एक छोटा-सा रंगीन

बल्ब भर जल रहा था हाल में। दरवाज़ा पार करते ही अमृतांजन की तेज़ गंध आयी। अन्धेरा था इसलिये कुछ दीख नहीं रहा था। धीरे से पुकारा—"भैया!"

"आ जाओ, आ जाओ। मैं इधर हूँ!" एक कोने से आवाज आयी। मैं उसी ओर बढ़ गया। वे ज़मीन पर दरी बिछाये, अध-लेटे-से पड़े थे। मैं जाकर उनके पास ही बैठ गया। उनके सर में पीड़ा थी इसलिये अमृतांजन मल रहे थे।

"पत्र मिल गया था तुम्हारा!"

मैं साँस रोके बैठा रहा, मौन, जड़वत्।

"पागल आदमी हो। अरे, मुझे पहले ही बतला देते तो.... अच्छा-अच्छा, अकल आ गयी यही अच्छा हुआ। कल से अब दूकान जाने की कोई जरूरत नहीं। आया समझ में...."

"जी!"

"कितने में खर्च चल जायगा घर का?"

पर मेरा स्वर फूट नहीं पाया।

"दूकान से कितना मिलता है?"

"तीस...."

"बस?"

"हाँ!"

वे देर तक कुछ सोचने में लगे रहे; फिर—"तुम्हारे पत्र ने मुझे हिलाकर रख दिया केशर, उफ्! तुम्हारे संघर्षों के प्रति किसे श्रद्धा नहीं होगी मेरे भाई!" वे चुप हो गये। मेरी क्या अवस्था उस समय हो गयी थी—इस समय उसे लिपिबद्ध कर पाना सचमुच असंभव है। उन्होंने मेरे कन्धे पर अपना स्नेहमय हाथ रख दिया—"चिनगारी तुम्हारी है, वह तुम्हें जो देगी, उसी से जीवन-यापन भी करना। मैं अब उस नरक में तुम्हें कभी भी नहीं जाने दूँगा केशर!"

"भैया !" मैंने उनके चरण छू लिये।

"पगले !" दोनों हाथों से मेरा सिर उठाकर उन्होंने अपने सामने कर लिया—"तू तो मेरा छोटा भाई है...."

मेरे मन का कोना-कोना उल्लसित हो उठा। रोम-रोम में सिहरन भर गयी। भैया की महाप्राणता की निकटता का अहसास मुझे पागल बनाये दे रहा था। घूरे पर उपेक्षित-से पड़े एक काँच को उन्होंने अपने स्पर्श से हीरे में परिणत कर दिया था।

● ●

माँ ने, मामा ने, मुहल्लेवालों ने मेरे दूकान के काम को छोड़ने का भयंकर रूप से विरोध किया। माँ ने तो गुस्से में, तीन दिनों तो खाना-पीना ही छोड़ दिया। मगर मैं डिगा नहीं। माँ को विश्वास ही नहीं हो पाता था और वह तभी हुआ, जब मेरे साथ आकर भैया ने स्वयं उनके हाथों पर दस-दस रुपये के पाँच नोट रख दिये।

'चिताएँ' पूरा हो गया था। उसे भैया को लाकर दे दिया।

"कम्पलीट ?"

"हाँ !"

"अच्छा-अच्छा !" वे मुस्कराये—"तुम्हारे इसी उपन्यास से 'चिनगारी' की छोटी बहन 'नागिन' का शुभारंभ होगा, समझे...."

"नागिन ?"

"हाँ जी, जल्दी ही एक उपन्यास-मासिक निकालने जा रहा हूँ। 'नागिन' नाम ठीक रहेगा न ?"

मैं मारे खुशी के फूला नहीं समाया।

'चिनगारी' में 'नागिन' के शुभारंभ का ठाटदार विज्ञापन आरंभ हो गया। देखते ही देखते मैंने प्रेस के फोरमैन लक्ष्मीचन्द के सह-

योग से, प्रूफ देखने में मास्टरी प्राप्त कर ली। लेखकों से पत्र-व्यवहार की जिम्मेदारी भैया ने पहले ही दिन से मुझे सौंप दी थी।

मैं 'चिनगारी-परिवार' का वैधानिक सदस्य हो गया था।

और आज—

जब भैया के वियोग से दग्ध, श्रीहत् चिनगारी कार्यालय की ओर से गुज़रता हूँ तो आँखें भर आती हैं। अन्तस् में हाहाकार मच जाता है और नज़ीर भाई के मर्मघाती गजल की ये पंक्तियाँ, मस्तिष्क के तार-तार को दर्द में डुबोकर रख देती हैं—

उस जगह से जाता हूँ अब झुकाकर सर अपना,
उठ गया है दुनिया से एक हमसफ़र अपना।
रास्ते में करते थे कल जगह-जगह मंजिल,
आज दिल धड़कता है मोड़-मोड़ पर अपना....

तुड़ाकर सभी से मधुर-प्रेम नाता
चढ़ा भाग्य की नाव पर जा रहा हूँ...

सन् ५०–५१ का वर्ष मेरे जीवन के लिये इतना घटना-संकुल रहा है कि उन सारी घटनाओं को लिपिबद्ध करने के लिये एक स्वतंत्र पुस्तक भी पर्याप्त सिद्ध न हो।

इन्हीं दो वर्षों में भैया कान्त का जीवन भी ऐसी परिस्थितियों में डूबता-उतराता रहा कि उसने अपना अस्तित्व ही खो दिया।

उन्होंने एक निश्छल कलाकार का हृदय पाया था। दुनियावी छल-छन्दों से सर्वथा मुक्त, उनके व्यक्तित्व पर समाज कीचड़ तक उछालने से वाज नहीं आया। उनके महान् हृदय को मसल कर धूल में मिला देनेवालों को भी मेरी आँखों ने देखा। अपने महाप्राण भैया को, उनके अपनों ही के द्वारा रुलाया जाना भी मैंने देखा है। और यह भी देखा है कि उनकी अलमस्त ज़िन्दगी ने, जिसने केवल हँसना ही जाना था, मुस्कराना ही सीखा था—अवसाद और आँसुओं के गहरे गर्त्त में अपने को उत्सर्ग कर देने में भी अपनी महाप्राणता से क्षणभर को भी डिगना स्वीकार नहीं किया।

जनवरी सन् ५१ को 'नागिन' का प्रथम अंक प्रकाशित हुआ।

'चिताएँ' प्रकाशित हो गया। मैं अब कहानीकर ही नहीं, उपन्यासकार भी था। मैंने देखा, भैया की जीवनी-शक्ति में घुन-सा

लगता जा रहा है। काम करने की असाधारण लगन और क्षमता ने उनसे नाता तोड़ लिया था। धीरे-धीरे वे सम्पादन सम्बन्धी सारा कार्य मेरे निर्बल हाथों में सौंप देना चाहते थे।

व्यवस्था-सम्बन्धी उत्तरदायित्व जग्गनजी ने पहले ही सम्हाल लिया था। वे दिन-रात अपने प्राइवेट रूम में बैठे रहते। किसी से मिलना-जुलना, बातें तक करना उन्हें पसन्द नहीं हो पाता था।

मेरे अबोध मस्तिष्क में उनका यह परिवर्तन, हथौड़े की चोटों की तरह बज उठता; पर उनसे अनेक वार समाधान पाने का प्रयत्न करने पर भी सफलता नहीं मिल पायी। आखिर मेरे भैया को हो क्या गया है?—कुछ समझ नहीं पाने के कारण छटपटा कर रह जाता था।

जग्गनजी बाकायदा व्यवस्थापकीय कुर्सी पर बैठते मगर मेरी शायद ही किसी दिन उनसे बात हुई हो। वे प्रयत्न भी करते परन्तु मैं कतराकर रह जाता। उनके व्यक्तित्व पर उस समय जाने कैसी गंभीरता छायी रहती कि प्रेस और कार्यालय के सारे कर्मचारी आतंकित-से रहते। और मैं?—मुझसे उस समय उनका कोई काम ही नहीं पड़ता था। और फिर मैं अपने भैया कान्त का छोटा भाई था, कर्मचारी नहीं।

'नागिन' का प्रथम अंक छप रहा था। मैंने भैया से कहा—"क्या केवल उपन्यास ही रहेगा उसमें?"

"और क्या दोगे?"

"स्तंभ वगैरह कुछ और तो रहना ही चाहिए...."

"हाँ, सोचा तो मैंने भी था कि प्रश्नोत्तर और उड़ते-उड़ते जैसा कोई हास्य-व्यंग्य का स्तंभ चालू किया जाय; पर जाने क्यों कुछ करने की अब इच्छा नहीं होती। मुझे कुछ दिनों विश्राम करने दो केशर और तुम्हें जो करना हो, जो तुम कर सको, करो। तुम्हीं मेरे

उत्तराधिकारी हो। उसका अभ्यास भी तुम्हें अभी ही से शुरू कर देना है। समझे कि नहीं?"

"आप कह क्या रहे हैं भैया!" मैं घबरा-सा गया था।

वे हँस पड़े—"अजब पागल लड़का है। अरे, ज़िन्दगी भर मुझसे ही 'चिनगारी' की सर्वेंटी कराने का इरादा है तुम्हारा?" फिर सहसा ही अत्यन्त गंभीर हो आये—"केशर, 'नागिन' के लिये प्रश्नोत्तर और 'फो' स्तंभ स्टार्ट कर सकोगे?"

उनके सामने असंभव से असंभव काम को भी संभव बना देने का उत्साह-सा उमड़ता रहता था। यह मेरा ही अनुभव नहीं, उस समय के सभी सहयोगियों का होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। एक साधारण कम्पोजिटर तक केवल उनके एक मुस्कानसने बोल पर ड्योढ़ा-दूना काम करने को ललक उठता था। प्रेस और कार्यालय में उस समय क़रीब पचास-साठ आदमियों का हमारा स्टाफ था। परन्तु उन्होंने कभी भूलकर भी अपने को न मालिक समझा और न ही कर्मचारियों को नौकर। छोटे से लेकर बड़े तक को अपना सहयोगी ही मानते रहे।

यही कारण था कि रात के नौ-नौ, दस-दस बजे तक मशीन पर जमे रहनेवाले रामनन्दन मिस्त्री को न तो कोई आलस्य, कोई एतराज़ होता था; न कम्पोजिंग डिपार्ट के फोरमैन लक्ष्मीचन्द गुप्त को।

कुछ लोग उनकी इस सरलता पर लांछन लगाते हैं कि उनकी शासन न करने की 'कमजोरी' का कर्मचारियों ने ग़लत फ़ायदा उठाया और उनको मूर्ख बनाते रहे। परन्तु 'चिनगारी' का इतिहास स्वतः ही इस आरोप को खंडित कर देता है।

'चिनगारी' ने देखते ही देखते बनारस ही नहीं, सारे हिन्दी-जगत को अपने उत्कर्ष से जिस प्रकार चमत्कृत कर दिया था, उसके मूल में भैया कान्त की साधना ही थी, उनके हृदय की सरलता ही

थी। रुपये के रोब और शासन की कठोरता से कर्मचारियों के सहयोग की कामना निस्सार है और किसी भी कार्य में, अगर कर्मचारियों के निष्कपट अपनत्व और सहयोग का योग न प्राप्त हो तो वह उठेगा नहीं, डूबेगा ही।

एक मुस्कान, अपनत्व का एक सम्बोधन जो काम किसी से करा सकता है, वह शासन के रोब से कभी सम्भव नहीं। मालिक और मजदूरों में आज आये दिन फैक्ट्री-एक्टी संघर्षों के इस दौर-दौरे में, भैया कान्त और उनकी 'चिनगारी' का आदर्श असाधारण लगता है और लगता है अपूर्व। मालिक-वर्ग अगर उनके आदर्श को अनुकरणीय मान ले तो फैक्ट्री-एक्ट की आवश्यकता स्वतः समाप्त हो जायगी।

एक दिन—

शाम के समय, जनवरी की सर्दी में मलमल का कुर्ता, पाजामा और ऊपर से हरे रंग की बेड-शीट ओढ़े, दुबले-पतले, अनाकर्षक व्यक्तित्व वाले एक तरुण ने मेरी मेज़ के सामने आकर पूछा—"कान्तजी से मिलना चाहता हूँ!"

मैंने सिर उठाया—"क्या काम है?"

"मिलना चाहता हूँ!" वही शब्द पुनः दुहराये गये।

"अपना नाम और आने का प्रयोजन लिखकर दे दीजिए...." मैंने एक चिट फाड़कर सामने कर दी और तब उस व्यक्ति ने जो नाम लिखा, वह मुझे चौंकाने के लिये काफी था। गोविन्दसिंह, जबलपुर—से मैं खूब परिचित था। 'चिनगारी' में इस व्यक्ति की कई कहानियाँ मैं खुद छाप चुका था। मन में हुआ, क्या यही गोविन्दसिंह होगा! चिट भैया के पास भिजवा दी। थोड़ी ही देर बाद, भैया के ऑफ़िस से कालबेल बजी। मैंने कहा—"जाइए!" ऑफिस में जे० पी० भाई भी थे उस समय और ब्रजकुमार शास्त्री भी।

उसके चले जाने के बाद—

"यह आदमी मुझे अच्छा नहीं लगता शास्त्रीजी!" जगनजी शास्त्री से कह रहे थे—"इस पर विश्वास करनेवाला धोखा खायेगा...."

शास्त्री ने क्या जवाब दिया, नहीं कह सकता। भैया ने मुझे भी बुलवा भेजा था अपने रूम में।

"केशर, आप गोविन्दसिंह हैं....अपने लेखक!"

"अच्छा!"

"मैं तो आपको देखते ही पहचान गया था कि आप केशरजी हैं!" गोविन्दसिंह ने कहा।

गोविन्द उस दिन तीन दिनों का भूखा था। संक्षेप में उसने अपनी बनारस आने की कहानी सुना डाली। पन्द्रह-बीस दिनों से, बनारस में अखबार बेचकर भूख शान्त करने की चेष्टा की थी उसने पर उसमें भी असफल रहा तो 'चिनगारी' का पता लगाता हुआ आ पहुँचा था।

भैया ने उसे पेट भर मिठाई खिलाई और दस रुपये नक़द दे, विदा करते हुए कहा—"आप कल से यहीं आ जाइए। अब कहीं भटकने की आवश्यकता नहीं।" दूसरे ही दिन से गोविन्द मेरे सहायक रूप में काम करने लगा।

उसका प्रथम उपन्यास 'राज-रानी' मैंने 'नागिन' में प्रकाशित किया। जिसपर बाद में, हजरत के द्वारा कुछ व्यक्तियों और उनके जीवन से संबंधित घटनाओं को ज्यों-का-त्यों लिख मारने के कारण—जबलपुर में मानहानि का केस चला। भैया को जबलपुर खिंचकर जाना पड़ा। मुक़दमें में हजारों रुपये स्वाहा हो गये। परन्तु कभी क्षण भर के लिये भी मैंने भैया के मन में, गोविन्द के प्रति असंतोष की झलक नहीं देखी। गोविन्द ने 'चिनगारी' में रहते हुए, मेरी ही बगल में, उपन्यास लिखना आरंभ किया और अपनी लिख सकने

की असाधारण प्रतिभा के बल पर शीघ्र ही बनारसी प्रकाशकों पर छा गया। उसने धुआँधार लिखा, धुआँधार छपाया। जिन प्रकाशकों ने उसे अपनी दूकान के सामने खड़ा भी नहीं होने दिया था, वे उसकी पुस्तकों के लिये उत्सुक हो गये।

भैया देखते और संतोष से भर उठते।

१५० उपन्यासों के लेखक गोविन्द सिंह के निर्माण में, उसकी अपनी प्रतिभा ने योग तो दिया ही था, भैया कान्त की महाप्राणता का योग भी कम नहीं था। इसे न तो मैं कभी भूल पाऊँगा और न ही गोविन्द सिंह कभी अस्वीकार ही करता है।

मार्केट में सफलता पाते ही गोविन्द 'चिनगारी' से अलग हो गया; परन्तु वह चिनगारी-परिवार का एक अंग तो बन ही चुका था।

● ●

'पपिहरा', 'लालरेखा', 'पारस' और 'परदेसी'—चिनगारी के इन चारों विशेषांकों ने अब प्रकाशन को इतना मज़बूत बना दिया था कि शीघ्र ही, जग्गन जी ने अनुभव किया, एक और पत्रिका निकाली जा सकती है।

परन्तु भैया में कोई उत्साह नहीं था।

उन्होंने 'चिनगारी' और 'नागिन' के अतिरिक्त एक और नयी पत्रिका का प्रकाशन व्यर्थ समझा परन्तु जग्गन जी अपनी ज़िद पर अड़े ही रहे। उनकी अवहेलना भी हो सकती है, मेरे लिये यह अकल्पनीय था परन्तु मुझे तो सब कुछ बदलता नज़र आने लगा था।

भैया धीरे-धीरे अपने को अलग कर रहे थे और जग्गन जी का प्रभुत्व छाता चला जा रहा था।

मैं असहाय-सा भैया की ओर देखता, थोड़ी आशंका से जग्गनजी की ओर निहारता पर समझ में खाक़ भी नहीं आ पाता।

"आपको क्या होता जा रहा है भैया !" एक दिन मन का द्वन्द्व सह नहीं सका तो कह ही उठा—"सब कुछ इतनी तेजी से बदलता जा रहा है कि परेशान हो उठा हूँ...."

"केशर...."

"भैया, मुझे बतलायें कि यह सब क्या हो रहा है ?"

"कुछ तो नहीं...."

"पर...." मैं अत्यन्त उद्विग्न हो रहा था ।

"केशर, 'चिनगारी' मेरी है, तुम मेरे हो...." उनके स्वर में मैंने कम्पन-सा अनुभव किया और विचलित हो आया—"देखो, जैसा चल रहा है, चलने दो....मैं अब कुछ दिनों विश्राम चाहता हूँ । बस, यही समझ लो । तुम मेरे उत्तराधिकारी हो केशर, इसे भूलो नहीं...."

वे बार-बार 'उत्तराधिकारी-उत्तराधिकारी' कहते थे—उफ्, उसमें भवितव्य का कितना क्रूर संकेत छुपा हुआ था !—आज कल्पना मात्र से रोमांच हो आता है। उन्होंने क्या उस मर्मघाती भविष्यत् की आहट पा ली थी ?

आहों का, पीड़ाओं का धुआँ-सा उठ पड़ा है और मैं उसमें खोता जा रहा हूँ । काश, उनके उन शब्दों का मर्म समझ पाता ! उफ् !!

● ●

उस दिन घर से ऑफ़िस आया तो कुछ परिवर्तन-सा अनुभव किया वातावरण में । भैया कान्त बाहर ही बैठे थे, आवश्यकता से अधिक प्रसन्न दीख रहे थे वे । मधुर भी था । एक गौर वर्ण, दुहरे शरीर और मुस्कराते हुए चेहरे वाला कोई अपरिचित व्यक्ति भी। भैया ने मुझे देखते ही कहा—"अरे आओ, केशर ! और भैया काश्यप को प्रणाम कर लो !" सुनकर मैं क्षणभर के लिये स्तब्ध-सा रह गया।

तब तक—"आओ मेरे केशराधीश !" कहते हुए भैया काश्यप ने मुझे अपनी बाँहों में भर लिया—"कितनी देर से तुम्हारा इन्तज़ार कर रहा था मैं...."

'अरे, उनके स्नेहागार हृदय का वह स्पर्श—कितना अपूर्व, कितना मोहक, कितना रोमाञ्चक लगने लगा है !' मेरे रोम-रोम से जैसे यही शब्द फूटे पड़ रहे थे उस समय।

भैया से अक्सर ही उनके सम्बन्ध में सुनता रहता था। उनके प्रति भैया कान्त के हृदय में अपार श्रद्धा है, इसका अनुभव कर चुका था....यही, मेरे भैया के भैया, काश्यप जी हैं ! क्या ऐसे होंगे !!—सचमुच कल्पनातीत था।

भैया कान्त के उपरान्त, बड़े भैया काश्यप जी में ही मैंने इतना उन्मुक्त, निश्छल और गम्भीर स्नेही-हृदय पाया है अब तक।

"तू तो निरा बच्चा ही है रे केशर !" बड़े भैया ने मुझे अपने पास ही बिठा लिया—"कान्त, अशेष, मधुर और केशर—मेरे ये चार-चार भरत जैसे भाई हो गये अब। कुका (भैया कान्त को वे सदैव स्नेह से 'कुका' ही कहते थे) मेरा यह केशर, सचमुच स्नेह की पुतली है...."

मैंने धीरे से बड़े भैया के चरणों पर अपना मस्तक टिका दिया।

बड़े भैया ने झटके से उठाकर मुझे एक बार फिर अपने कलेजे सटा लिया—"कुका, तूने 'चिनगारी' के लिये सचमुच अनमोल रत्न, जाने कहाँ-कहाँ से इकट्ठे कर लिये हैं....मेरी 'चिनगारी' इन रत्नों की चमक से दिनानुदिन दीप्त होती रहेगी...."

भाव-विह्वल हो कहते चले जा रहे थे वे और हम आह्लादित-से उनके मुस्कान-रंजित मुख की ओर टकटकी लगाये बैठे हुए थे।

वे 'चिनगारी' से अलग हो गये थे पर 'चिनगारी' के प्रति उनके

अन्तस में जो मोह भर गया था, वह दिन पर दिन प्रगाढ़ ही होता गया।

उनके विमल स्नेह के हम सब अधिकारी हैं, यह अहसास आज भी जीवन को ज्योति—गर्वीली ज्योति से अनुप्राणित किये रहती है।

बड़े भैया ने हम सब को अपने हाथों से उस दिन गया के पेड़े खिलाये थे। भैया कान्त के हूकभरे स्मृति-चिन्तन में, उस बहुमूल्य साक्षात्-घड़ी की कल्पना ने आज भी मुझे विह्वल बना दिया है।

भैया काश्यप उसी दिन गया चले गये थे।

विदा होते समय उनकी आँखें छलछला आयी थीं।

"कुका, मधुर, केशर—तुम सबसे विदा होते ऐसा लगने लगा है, जैसे मेरा हृदय यहीं छूटा जा रहा हो....मेरे बच्चो, तुम्हारा जीवन सदैव मुस्कानमय बना रहे...." स्वर रुद्ध हो आया था उनका।

"भैया, मैं कुछ दिनों आपके निकट ही रहना चाहता हूँ...." भैया कान्त ने कहा तो वे विचलित-से हो आये।

"मैं तुम सब से दूर भी कहा हूँ पगले!"

"नहीं भैया...."

"अच्छा-अच्छा....बच्चों के सामने तुम्हारा यह बचपना शोभा नहीं पाता कुका!" उन्होंने भैया कान्त की पीठ पर थपकी दी और तुरत ही घूम पड़े। मैंने देखा, उनकी छलकती आँखें बरसना ही चाहती थीं।

पर भैया कान्त से कुछ ही दिनों बाद उनकी दूसरी भेंट—नहीं, अन्तिम मर्मघाती भेंट किंग एडवर्ड हास्पीटल के वार्ड नं० ४ में होने वाली थी....इसकी क्या भैया काश्यप ने कभी कल्पना की थी। अपने प्यारे कुका से मिलकर, निकट भविष्य में ही वे फूट-फूट कर रोने वाले हैं....इसे कौन जानता था!

हम सब पर वज्रपात करने के लिये दुर्दैव का कराल-चक्र बड़ी तेजी से घूम रहा था।

● ●

'चिनगारी' के प्रति भैया की क्रमशः बढ़ रही विरक्ति, मेरे लिये असह्य-सी होती जा रही थी। उन्होंने 'नागिन' के साथ ही 'चिनगारी' के सम्पादन का भी संपूर्ण उत्तरदायित्व मुझे सौंप दिया था। उड़ते-उड़ते और प्रश्नोत्तर स्तंभ, उनकी जादूभरी कलम के चमत्कार प्रमाणित हो चुके थे। मगर अपनी अवसादमयी मनःस्थिति के कारण उन्होंने उन दोनों स्तंभों का दुस्साध्य-भार भी मुझपर सौंपा दिया। वे चारों ओर से अपने को समेट रहे थे; उनकी उपस्थिति का अनुभव ही, मुझ अबोध के हृदय में आत्म-विश्वास और कार्य करने का अदम्य उत्साह भरता रहता था।

कुछ न कुछ ऐसा होनेवाला है, जो अकल्पनीय है!—बस, इतना ही रह-रहकर मेरे मस्तिष्क में विद्युत-प्रवाह-सा उमड़ता रहता।

वह क्या है?—मन-मस्तिष्क पर बोझ-सा बनकर लदा रहता।

जग्गनजी ने प्रेस और प्रकाशन की सारी व्यवस्था अपने हाथों में कर ली थी। उनकी जिद ने, भैया की असहमति के बावजूद 'बिजली' का प्रकाशन कर के ही 'छोड़ा। 'चिनगारी' और 'नागिन' के साथ ही अब 'बिजली' के सम्पादन का उत्तरदायित्व भी मुझपर आ पड़ा।

गोविन्द सिंह जैसा सुयोग्य और दक्ष सहयोगी भी अधिक दिनों तक मेरा हाथ न बटा सका। उसकी तूफानी-क़लम ने धड़ाधड़ उपन्यासों का प्रणयन आरंभ कर दिया था। उसके उपन्यास उसी गति से प्रकाशित भी होते रहे। तब 'चिनगारी' में क़लम घिसते रहने की उसने आवश्यकता नहीं समझी। मैं एकदम अकेला पड़ गया।

स्मृति-प्रवाह में बहती हुई उस घड़ी की अपनी स्थिति सामने आ गयी है तो सच कहता हूँ, चकित रह गया हूँ।

भैया की उपस्थिति की अनुभूति ही तो थी, जो उस समय मुझसे तीन-तीन पत्रिकाओं के सम्पादन के साथ ही, हर दूसरे-तीसरे महीने एक उपन्यास भी लिखवा लेती थी।

'चिताएँ' के बाद, 'सितारा', 'कामरेड' (चिनगारी उपन्यास विशेषांक) 'संगीनें' (नागिन विशेषांक) कैसे लिख डाले, इतने व्यस्त जीवन में, इतने कम समय में—आज तक समझ नहीं पाया हूँ।

कुछ दिनों पूर्व, एक साधारण-सी बात को लेकर भैया और प्यारेलाल 'आवारा' के बीच गहरी झड़प हो चुकी थी। 'आवारा' ने अपनी 'रूपसी' में भैया का नाम सम्पादक में छाप दिया था। अपने नाम के नीचे। देखकर भैया, बुरी तरह उबल उठे थे। मैंने भी, आवारा की यह अनाधिकार और सर्वथा अक्षम्य चेष्टा समझी थी। उस समय उसके प्रति आक्रोश भी कम नहीं था मेरे मन में। 'चिनगारी' और 'रूपसी' में, इसी बात को लेकर दोनों ही ओर से गर्मागर्म 'बहसें' छपती रही थीं।

"यह आवारा तो बड़ा बुरा आदमी है भैया !"

वे खुलकर हँस पड़े—"तुमने उसे देखा तो है नहीं। कैसे कहते हो कि वह बुरा आदमी है। उसकी नालायकी से मुझे आनन्द ही आता है। अपना है न ? तभी तो जब मेरे सामने आ जाता है सरवा, तब उसे गले लगा लेने से अपने को रोकना मेरे लिये कठिन हो जाता है !"

"कैसी बात करते हैं आप !" मैं उनकी बात से बौखला-सा गया था—"आपके स्थान पर मैं होता तो खून कर देता...."

"अरे-अरे !"

"सच कहता हूँ...."

"अच्छा, उससे मिलने के बाद भी अगर तुम ऐसा ही विचार रख सको अपने मन में तो मानूँगा...." कह कर वे फिर हँस पड़े थे।

उनके इस समाधान से सचमुच मुझे रंचमात्र भी संतोष नहीं हो पाया। 'रूपसी' में भैया के विरुद्ध अक्सर ही छींटा-कशी छपा करती थी। मैं देख-देखकर 'कबाब' बन जाता। मिलने पर आखिर उसमें ऐसी क्या बात हो सकती है, जिससे मेरे मन के उमड़ते आक्रोश पर ठंढा पानी पड़ जायगा !—ऊँहः, भैया तो ऐसा कहते ही रहते हैं।

मेरा मन आवारा से समझौता करने को कभी भी तैयार नहीं हो पाता था।

और एक दिन—

ऑफ़िस आया तो पता चला, कल रात ही 'आवारा' आये हैं और इस समय भी उपस्थित हैं भैयावाले कमरे में। सूचना शायद मधुर ने दी थी। मैं बेतरह उद्विग्न हो गया था। मेरा आना जान, भैया ने बुलवा भेजा; परन्तु तुरत उनके कमरे में पहुँचना मेरे लिये कठिन हो गया। अपने को भुलाने के लिये ऐसे ही इधर-उधर के काम में उलझ-सा गया। भैया की दुबारा बुलाहट हुई। जाना ही पड़ा।

"आदाबअर्ज है, केशर साहब !"

मैं अचकचाया। वही था, प्यारे लाल 'आवारा'। कामरेडी वेश-भूषा में मुस्कराता हुआ-सा। मैं झिझक रहा था अन्दर आने में।

"आओ न केशर !" भैया ने मुस्कराते हुए मेरी झिझक पर 'वार' किया।

"नमस्कार...." मुश्किल से कह पाया।

"मैंने तो सुना था आप मुझ नाचीज़ पर बुरी तरह खफ़ा हैं हाज़िर हूँ, सज़ा पाने को। पर आप आइए, बैठ तो जाइए...." उसने उठकर मुझे अपने पास बिठा लिया। थोड़ी ही देर के उपरान्त भैया के वे शब्द, मेरी आँखों के समक्ष नाच-नाचकर रह जाने लगे।

अन्दर टटोला तो सचमुच 'आवारा' भैया कान्त की तरह ही 'अपना' हो गया था।

तब से आज तक—'आवारा' मेरा अपना है और मैं उसका।

यह बात दूसरी है कि अनेक बार, हम दोनों आपस में जूझ-से पड़ने को हो गये हैं। उसके व्यक्तित्व की यह विशेषता है, अनायास ही झगड़ उठता है; पर वह झगड़ा, अपनत्व के 'मिष्ठान्न' के लिये 'नमकीन' का ही महत्व रखता है! लगता है, अपनत्व के मीठे से ऊबकर टेस्ट बदलने के लिये झगड़े के 'नमकीन' को आवश्यक समझने लगता है मरदूद!

भैया आवारा को कितना चाहते थे, निम्न उदाहरण प्रमाण है।

एक बार वह भैया से मिलने के उपरान्त इलाहाबाद गया। जिस गाड़ी से वह गया था, रास्ते में ही दुर्भाग्यवश वह दुर्घटनाग्रस्त हो गयी। पचीसों आदमियों के मरने का जब समाचार आया तो वे फूट-फूटकर सारे दिन रोते रहे। भैया को फूट-फूटकर रोता देखने का, मेरे लिये पहला ही अवसर था।

इलाहाबाद से जब तक 'आवारा' के सकुशल होने का तार नहीं आ गया, उनकी आँखों के आँसू नहीं सूखे। दुर्घटना में, सौभाग्यवश 'आवारा' घायल ही भर हुआ था।

● ●

मैं किसी काम में डूबा हुआ था।

"मेरी यह कविता ज़रा देखिएगा क्या!" आवाज आयी।

सिर उठाया तो देखा, बड़े-बड़े घुँघराले बालों में मुस्कुराता हुआ एक तरुण खड़ा है। कविता देखी तो—रमेशचन्द्र झा!

"अरे, आप!"

"जी!"

"कब आये?"

"कल...."

रमेश की अनेक कवितायें 'चिनगारी' में छप चुकी थीं। कई तो मैंने अपने हाथों छापी थीं। अपनी कोई पुस्तक छपवाने आया था वह। उसके प्रथम परिचय की 'माध्यम' उस कविता की दो-एक पंक्ति मुझे आज भी याद है—'चाँदनी उदास और चाँद भी उदास है....'

'चिनगारी' की यह विशेषता बिल्कुल अपनी थी कि उसमें लिखने-वाले कवि और लेखक, एक परिवार के सदस्य जैसे हो जाते थे। हमारे बीच कभी सम्पादक और लेखक का रिश्ता रह ही नहीं जाता था। कुछ लेखकों से तो आज तक मेरा इतना नैकट्य है कि सगे भाई भी इतना निकट क्या होंगे। दूसरी जो सबसे बड़ी बात है, उनमें से अधिकांश सूरत से न तो मुझसे परिचित है और न मैं उनसे।

यह 'चिनगारी' का, भैया 'कान्त' का अपूर्व और गौरवशाली प्रतिमान है। इससे कौन इनकार करेगा?

'चिनगारी' ने अपने लेखकों को वह नहीं दिया, जो सभी देते हैं; वह दिया जो कहीं नहीं मिलता। और वह था स्नेह से उफनाता हुआ अपनत्व!

इसका अनुभव 'चिनगारी' के क्षणिक सम्पर्क में आने वाला आज भी करता है, कभी भी करता रहेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं।

● ●

भैया की उखड़ी मनःस्थिति का मर्म रहस्य के गहरे अन्धकार में आवृत्त था। एक दिन मधुर से बातें करते-करते मुझे न जाने क्या आभास मिला की कलेजा बुरी तरह धड़कने लगा। आशंकाओं ने मुझे झकझोर कर रख दिया।

मन के कोने-कोने से चीत्कार-सा फूटने लगा—

भैया किसी से प्रेम करने लगे हैं।

प्रेम !

मैंने दो अक्षरों के इस शब्द को उस समय तक गम्भीरतापूर्वक समझने का प्रयत्न ही नहीं किया था। ऐसी बात नहीं थी कि उसके सम्बन्ध में, कुछ जानता-समझता न रहा होऊँ। अपनी कहानियों, उपन्यासों तक में, इस शब्द से भरसक कतरा कर अलग हट जाने वाले मेरे मस्तिष्क के तार-तार में सिहरन व्याप्त हो गयी।

अब भैया के परिवर्तन का मर्म मेरे लिये अजाना नहीं रह गया था। उनके लिये रात-दिन जो चिन्ता, जो आशंका मुझे मथती रहती थी, वह समाधान पाकर शान्त-सी हो गयी।

सोचता—

प्रेम करना कोई गुनाह तो है नहीं। भैया इतने निर्बल, इतने भीरु भी नहीं कि समाज, परिवार और उन सबके विरोधों के समक्ष हथियार डाल देंगे।

एक दिन—

"आपको इधर हो क्या गया है भैया !" बहुत साहस करके पूछ ही लिया—"इतने उखड़े-उखड़े तो आप कभी नहीं रहते थे ?"

वे मुस्कराये। सूखे अधरों को जैसे जमाने बाद, रस-प्राप्ति हुई हो। उन्होंने कुछ कहा नहीं। चुपचाप मेरी ओर देखते रहे।

"नहीं बतलायेंगे ?"

"केशर !"

"मैं कभी-कभी बहुत घबरा जाता हूँ। चारो ओर एक अजीब डरावनी-सी मुर्दनी छाती जा रही है। आप इतना बदलते जा रहे हैं कि...."

"ऐसा लगता है तुम्हें ?"

"हाँ !"

"अच्छा, एक बात बतलाओ !" वे कुर्सी पर सम्हल कर बैठ गये—"अगर एक दिन सभी मुझे घृणा की नज़रों से देखने लगें तो तुम क्या करोगे ?"

"भैया !" मेरा मन बुझ-सा गया।

"बोलो-बोलो !" क्षणभर के लिये वे आतुर-से हो आये—"मैं जानता हूँ, किसी भी स्थिति में तुम मेरे ही रहोगे। बदलोगे नहीं। थोड़ा और धैर्य रखो, मैं तुमसे चाहकर भी कुछ छिपा नहीं पाऊँगा। देख तो रहे ही हो, मेरे जो अपने थे अब बेगाने होते चले जा रहे हैं। देखकर मुझे भी चोट लगती है। पर....उस चोट से पीड़ित नहीं होता। उससे बचने की कोशिश भी नहीं करना चाहता।" कहने के बाद, उन्होंने एक दीर्घ निःश्वास लिया और मौन हो गये।

मुझसे अब तक उन्होंने ऐसी गंभीर, ऐसी दुरूह बातें कभी भी नहीं की थीं। थोड़ा समझा और अधिक समझ के परे रहा।

काफी देर तक कमरे में मौन का एकान्त छाया रहा। वे चिन्तन में खोये हुए थे और मैं अपने उद्वेलन में। तभी जग्गन जी आ गये। वे मेरे सामने ही भैया से कहने लगे कि प्रेस और प्रकाशन की आर्थिक स्थिति डाँवाडोल है, आप 'जंजीर' में हाथ लगा ही दीजिए....पाठकों की ओर से इतना डिमांड आ रहा है और आप हैं कि कुछ ध्यान ही नहीं दे रहे हैं !—वे कहते रहे और भैया चुपचाप सुनते रहे।

उनके कह चुकने के काफ़ी देर बाद—

"जंजीर के लिये तुमसे कितनी बार कह चुका हूँ कि इस समय कुछ भी लिख सकना मेरे लिये असंभव है। फिर भी तुम बार-बार मुझे परेशान करते हो...." वे देर तक जाने क्या-क्या कहते रहे।

थोड़ी देर बाद, जग्गन जी झुँझलाये हुए मुँह फुलाकर उठे और चले गये।

"देखते हो ?" उनके स्वर में तब भी आवेग की खनक थी।

मैं कहता भी क्या ?

"लिखने को जैसे मज़ाक समझ लिया है। मैंने सब कुछ छोड़ दिया है पर ये सब हैं कि इतने पर भी मुझे शान्ति की साँस नहीं लेने देना चाहते। मैं क्या करूँ केशर, तुम्हीं बतलाओ न !" कहते हुए वे इतने आतुर लग रहे थे, जैसे उनका बच्चा-सा केशर न बैठा हो अपितु कोई बड़ा-बुजुर्ग ही हो।

परिस्थितियों से मन ही मन संघर्ष करते-करते वे सचमुच टूट रहे थे और टुटन का प्रभाव उनके महान् व्यक्तित्व पर भी पड़ रहा था।

जग्गन जी का 'जंजीर' वाला प्रस्ताव मुझे भी अनुचित लगा था। इतनी अशान्त मनःस्थिति में वे लिख भी सकते हैं ? सोचना—अविवेक के सिवा और कुछ नहीं—मन की इसी उथल-पुथल में पड़ा था कि भैया कुर्सी छोड़कर उठ पड़े।

"तुम्हारे पास कोई काम न हो तो आओ चलो, थोड़ा घूम आया जाय...." कहते हुए वे कपड़ा पहनने में लग गये। मैं बिना एक शब्द बोले उनके साथ हो लिया।

उस दिन भैया के साथ संपूर्ण बनारस की 'परिक्रमा' ही कर डाली, पैदल ही। रात के ग्यारह बजे वे मेरे घर के पास से विदा हुए तो उनकी ओर देखकर न जाने क्यों, रो उठने को मन होने लगा।

"थक गये हो न ?"

"नहीं, भैया !" मैं अपने को सम्हाल न सका। आँखों से दो बूँदें गालों पर लुढ़क ही पड़ीं।

"अरे केशर, तुम रोते हो !"

"नहीं, भैया...."

"ठीक है, आँखें पोंछ लो। मुझे देखो, कभी रोता हूँ। रोता देखकर यह ज़ालिम दुनिया हँसती है मेरे भाई!" और वे हँस पड़े थे। उनकी वह हँसी हृदय में सुई बनकर आज भी समायी हुई है और जब तक जीता रहूँगा समायी रहेगी।

"कल अम्मा से कहते आना। सेकेंड शो चलेंगे हम। रात आफिस में ही रह जाना....अच्छा!" और वे झटके से मुड़कर आगे बढ़ गये।

मैं विमूढ़-सा खड़ा अपने महाप्राण भैया को देखता रहा, देखता रहा। उस समय भैया की ही लिखी, बहुत पहले की कविता की ये दो पंक्तियाँ जाने क्यों गूँज-गूँज कर रह गयी थीं—

छुड़ा कर सभी से मधुर-प्रेम नाता,

चढ़ा भाग्य की नाव पर जा रहा हूँ....

आह, वह दुर्दैव का कितना क्रूर संकेत था—कितना खूनी, कितना निर्मम संकेत!!

कोई माँगता है वापस कहीं दी हुई निशानी
इसी दिन के वास्ते क्या मुझे दी थी जिन्दगानी

स्मृतियों के इस तूफ़ान में उड़ता हुआ-सा अब उस सीमा-पर आ पहुँचा हूँ, जहाँ अन्धकार के सिवा और कुछ नहीं दीख रहा है। अपने आप में उस पथिक-सी कुंठा अनुभव करने लगा हूँ, जिसका सब कुछ लूटकर, प्रशान्त महासागर के निस्सीम वक्ष पर फेंक दिया गया हो। भैया की हूकभरी स्मृतियों को सँजोने में, मेरे अन्तस् का एक-एक कण रोया है। मेरे इस अन्तःरुदन ने आपके मन को कहीं-कहीं छुआ है, आप विह्वलता की मार्मिक अनुभूति में डूबे भी हैं—ऐसी आशा इसीलिये कर रहा हूँ कि मेरा दर्द केवल मेरा नहीं; भैया कान्त केवल मेरे नहीं, आप सब के थे।

कुशवाहा कान्त की मौत कैसे और क्यों हुई ?

वे कौन-से कारण थे, जिन्होंने हिन्दी के सर्वप्रिय कथाकार के अस्तित्व को असमय ही खून में डुबो कर रख दिया था ?

सन् ५२ से इस ५६ तक, उनके शत्-शत् पाठकों ही नहीं, संभवतः संपूर्ण हिन्दी-जगत् में ये जलते प्रश्न घुमड़ते रहे हैं !

हाँ, ऐसों की भी कमी नहीं रही, जिनके दिलों में कुशवाहा कान्त की मौत पर—नहीं, हत्या पर; घी के दीये जले होंगे। और इसमें भी सन्देह नहीं कि 'ऐसों' के हाथों ही मेरे भैया का खून हुआ।

उनके काले-हृदयों को आज भी चीरकर देखा जाय तो भैया के लहू की बू मिलेगी।

मेरे भैया ने प्यार किया था—यह स्वीकारते मुझे कोई संकोच नहीं हो रहा है। और मात्र इसी 'अपराध' पर उनका खून कर दिया गया। इस ज़ालिम दुनिया के मुँह ने, एक नहीं, हजार-हजार खूनों के 'स्वाद' लिये हैं! इससे भी कोई इनकार नहीं करेगा। दरअस्ल भैया जैसे अच्छों के लिये यह दुनिया बनी ही नहीं है। आवेश की बात जाने दीजिए, शान्त-चित्त से सोचने पर भी—मुझे यही रिजल्ट मिलता है कि भैया का खून उनकी अच्छाइयों ने ही किया।

मेरी आँखों ने देखा है—

भैया ने जिन्हें अपना समझा, वे अवसर पाते ही उन्हें ठोकरें मारने से नहीं चूके हैं। उनकी छटपटाहट का मखौल उड़ानेवालों की भी कमी नहीं रही है। और वे भी भैया के अपने ही रहे हैं! उन्हें मौत के गहरे गर्त में ढकेलनेवाले भी उनके 'अपने' ही तो रहे हैं! ऐसे अपने, जिनकी एक उँगली दुख है तो उनके प्राण छटपटा उठे हैं।

व्यक्ति कुशवाहा 'कान्त' (उपन्यासकार कुशवाहा 'कान्त' की बात नहीं करता!) की ऊँचाई को छूनेवाले उदाहरण, मानवता के कोश में उँगलियों पर ही गिने जाने योग्य होंगे! इसे मेरी आत्म प्रशंसा न समझी जाय। जिन्होंने कान्त जी को देखा है, समझा है, उनका भी यही निर्णय होगा और ऐसों की आज भी कमी नहीं है।

एक बार—

"भैया, मुझे बहुत आश्चर्य होता है, जब आपके अपने ही...."

"बुरा कहते हैं!" उन्होंने मेरी बात को बीच ही में लोक-सा

लिया। मैंने देखा वे बड़ी ही स्वाभाविकता से हँस रहे थे—"तुम सोचते हो मैं अन्धा हूँ, कुछ देखता-समझता ही नहीं। मैं सब देखता हूँ। सब समझता हूँ। पर मात्र इसी से मैं उन्हें अपना न समझने लगूँ, ऐसा करने को क्यों कहते हो तुम केशर!"

मैं कहता भी क्या?

वे कहते रहे—"नाते-रिश्ते एक बार जुड़कर फिर टूटा नहीं करते केशर! मुझे इसका विश्वास है और जिस दिन मेरे इस विश्वास पर आँच आएगी, याद रखना, मैं न रहूँगा। अपनों के द्वारा प्रदत्त पीड़ा का रस बहुत मीठा होता है—इसे कभी कुशवाहा कान्त बनकर अनुभव करोगे तो सच कहता हूँ, भूल न सकोगे!"

"जो भी हो भैया, मुझसे अब सहा नहीं जाता!"

"क्या?"

"आपका यह अवसाद...."

"तो करोगे क्या?"

"जो आप कहें...."

वे खुलकर हँस पड़े—"पागल लड़के हो!"

उनके दर्द में हिस्सा बटानेवाले मेरे जैसों की कमी नहीं थी; परन्तु सदा के शाहखर्च मेरे भैया को इस 'दर्द' ही ने इतना 'कृपण' बना दिया था कि ऐसा अवसर आते ही, वे मैदान छोड़कर भाग जाते थे।

● ●

कुछ लोगों ने मेरे ऊपर आरोपित किया कि 'मैं कान्तजी के अन्त समय के प्रति अपने को ईमानदार साबित शायद न कर सकूँ। उनके प्रणय—बलिदानी प्रणय के चित्रण का साहस मुझमें कभी नहीं होगा!'

क्या इसीलिये कि मेरे भैया के बलिदान को समाज ने कलंक की संज्ञा दी है !

क्या इसीलिये कि प्रणय ने उनके धवल-व्यक्तित्व पर धब्बा लगाया है ?

आरोप के मूल में, मेरी समझ से यही तथ्य रहा है। मेरे दो-एक बन्धुओं ने, इस आरोप को बल प्रदान करने के निमित्त कुछ ऐसे कारण भी इधर-उधर प्रचारित किये हैं, जिसकी वजह से मैं सत्यविमुख हो सकता हूँ। परन्तु वे कारण, उनके अपने हृदय की कालिमा के सिवा और कुछ नहीं। इसलिये गोली मारी जाय।

हाँ, उपरोक्त तथ्य बहुत कुछ स्वाभाविक थे। पर हैं वे भी सत्य से कोसों दूर।

भैया के बलिदान को न तो मैं कलंक ही मानता हूँ और न ही प्रणय को उनके व्यक्तित्व का धब्बा ! इस कुष्ठरोगी-समाज में साँस लेने का ही असर है, जिसने ऐसे 'तथ्यों' को जन्म दिया है।

मैं इससे भी इनकार नहीं करता कि—

संभव था, भैया की घायल, अश्रु-सिंचित स्मृतियाँ, मेरी कलम को पथभ्रान्त कर देतीं और इससे मेरे आरोपक-बन्धुओं के भ्रम को बल-प्राप्ति सहज ही हो जाती।

अस्तु, सन् ५१—५२ की अपनी डायरी के कुछ पृष्ठों को, ज्यों-का-त्यों प्रस्तुत कर रहा हूँ। अन्तिम दिनों, मैं भैया के अत्यन्त निकट हो गया था। परिस्थितियों ने उन्हें उद्भ्रान्त-सा बना दिया था। ऐसे समय दो ही एक बच गये थे, जिन पर उन्हें विश्वास करने को विवश-सा होना पड़ा था। मुझ बच्चे के समक्ष उन्होंने अपने को खोल कर रख दिया था। दुनिया से, अपनों से उनके हृदय का विश्वास, उठा नहीं तो डिग अवश्य गया था।

उस समय की मेरी डायरी आज कितनी मूल्यवान् साबित हुई है।

डायरी न होती तो, बहुत संभव था, मात्र स्मृतियों के सहारे भैया के मर्म के घाव को प्रकट करने में अविश्वास का पात्र मान लिया जाता। डायरी के इन पृष्ठों से केवल असम्बन्धित बातें ही हटायी हैं मैंने; शेष ज्यों की त्यों प्रस्तुत हैं।

शब्द मेरे हैं परन्तु शब्द के प्राण—भाव, भैया के हैं।

अपने को सत्य प्रमाणित करने के लिये इस साधन के अतिरिक्त और कोई मार्ग हो भी नहीं सकता। डायरी में उल्लखित, सम्बन्धित बन्धुओं से क्षमा चाहूँगा। इसलिये कि तात्कालिक स्थिति में, उनके प्रति मेरे जो विचार, जो आक्रोश डायरी के निम्न पृष्ठों में व्यक्त हुए हैं, वे वातावरण और समय प्रसूत हैं। किसी के भी प्रति आज न तो मेरे मन में रञ्चमात्र मैल ही है न आक्रोश।

● ●

....आज भैया ने मुझे अपने रूम में बुलाया तो वे अत्यन्त उद्विग्न दीख रहे थे। उद्विग्न तो वे इधर सदैव ही रहा करते थे मगर आज की उनकी उद्विग्नता ने मुझे विचलित-सा कर दिया।

"केशर, दरवाजा बन्द करते आओ...."

मैं दरवाजा अन्दर से बन्द करता हुआ, उनकी छोटी मेज के सामने रखी इजीचेयर पर बैठ गया। मेज पर रखे छोटे आईने में, मधुर की जीजी का एक फोटो खुसा हुआ था। वे उसकी ओर देर तक खोयी-खोयी आँखों से निहारते रहे। मेरे मन में भयङ्कर उथल-पुथल मची हुई थी। मधुर के जीजा ब्रजकुमार शास्त्री, ऑफिस में व्यवस्थापक के पद पर काम करते थे; परन्तु जाने क्यों, जग्गनजी के आने के थोड़े ही दिनों बाद, वे अलग हो गये। मधुर की जीजी नारायणी जी को, भैया के निकट देख चुका हूँ। भैया ने उन्हें महिला-स्तम्भ की सम्पादिका भी बनाया था। ब्रजकुमार शास्त्री के साथ ही वे

भी नहीं दीख पड़तीं....भैया के परिवर्तन के मूल में नारायणी जी ही तो नहीं हैं ! मस्तिष्क में कौंधा ही था कि—"केशर, तुम मेरे अवसाद का कारण जानना चाहते थे न ?" मैंने उनकी ओर देख भर लिया।

मेरी धड़कनें क्रमशः तीव्रातितीव्र हो रही थीं।

भैया ने आज मुझसे सब कुछ बतला दिया। भैया अपने दाम्पत्य-जीवन से कभी सन्तुष्ट संभवतः नहीं रहे....उसे कर्तव्य समझ कर ही निबाहते रहे हैं, जान कर जाने कैसा-कैसा तो लगने लगा था। मधुर के माध्यम से ही नारायणी जी उनके सम्पर्क में आयीं। साहित्य के प्रति अभिरुचि और भैया के सहज-स्नेही स्वभाव ने, मधुर की ही भाँति उन्हें, भी अत्यन्त निकट ला दिया।....

नारायणीजी अपने दाम्पत्य-जीवन से अन्दर ही अन्दर असन्तुष्ट थीं। ब्रजकुमार शास्त्री पुराने खयाल के व्यक्ति थे। नारायणीजी की साहित्यिक-अभिरुचि से, शास्त्रीजी को दिलचस्पी हो भी क्या सकती थी ? और तब भैया के निकट सम्पर्क में आने से वे अपने को रोक नहीं पायीं। शास्त्रीजी पहले काशी गुरुकुल में अध्यापन का कार्य करते थे। नारायणीजी से सम्पर्क बढ़ने के उपरान्त भैया ने शास्त्रीजी को 'चिनगारी' में बुला लिया।

बाहर से कोई दरवाज़े पर दस्तक देने लगा। बात जहाँ की तहाँ रह गयी।

मैं सोच नहीं पा रहा हूँ कि भैया और मधुर की जीजी का यह अनुराग-बन्धन कहाँ तक उचित है। कोई भी पति इसे कैसे बर्दाश्त कर पायेगा। शास्त्रीजी को, आफ़िस में रहते समय, काफी नजदीक से देखने-समझने का अवसर मिला है। आदमी बुरे नहीं हैं। मगर विचारों से कम-से-कम एक शती पुराने तो लगते ही हैं। बचपन से ही संस्कृत के अध्ययन और आर्य-समाजी-प्रचारकों के निकट-सम्पर्क

में रहने के कारण, व्यक्तित्व की स्वाभाविक-सरसता समाप्त-सी हो गयी है। लगता है, शास्त्रीजी का व्याह भी कुछ अधिक उम्र में हुआ है।

और मधुर की जीजी!

उन्हें अधिक निकट से जानने का अवसर तो नहीं मिल पाया है मुझे। सरसरी-नज़र में, एक आधुनिक महिला के सारे गुण तो दीख ही जाते हैं उनमें। वैसे उन्हें, कम से कम शारीरिक दृष्टि से बहुत आकर्षक भी नहीं कहा जा सकता। फिर भैया के अनुराग की लहर के मूल में आखिर है क्या?....

अब आगे लिख पाना कठिन हो गया है।

भैया क्या मोह में बहुत गहरे डूब चुके हैं? उनका यह मोह एकांगी तो नहीं है? और इस सम्बन्ध में मधुर क्या विचार रखता है?....न जाने कितने प्रश्न कौंध-कौंधकर रह गये हैं।

डायरी लिखने की आदत सचमुच अच्छी नहीं। पर नहीं, डायरी न लिखता होता तो इस मनःसमीक्षण का अवसर भी क्योंकर आ पाता?

* *

भैया ने मुझे एक लिफाफा दिया और कहा—इसे बिना किसी को जनाये पोस्ट बाक्स में छोड़ आना है। पत्र मधुर की जीजी को लिखा गया था। उसे पोस्ट बाक्स में छोड़ने के लिये वे इतने आशंकित-से क्यों हो रहे हैं? समझ में नहीं आया।

उनको अब किसी पर विश्वास नहीं रह गया है।

पर क्यों?

पत्र छोड़कर आया तो भैया ने आतुर-भाव से पूछा—"किसी ने देखा तो नहीं केशर!" मैंने उन्हें विश्वास दिला दिया कि पत्र छोड़ते समय, किसी की दृष्टि मुझपर नहीं पड़ी है। मैंने उनकी ओर गौर से देखा—यह सुनकर वे आश्वस्त हो आये थे।

"देखो, मैंने तुम्हारे घर का पता दे दिया है। कोई पत्र आये तो तुरत, सावधानी से मुझे लाकर दे देना...."

"किसका पत्र?" समझ नहीं पाया तो पूछ लिया था।

"मधुर की जीजी का...."

"वे हैं कहाँ?"

"बिहार, अपने मैके...."

आज वे इतने अशान्त रहे कि और कोई बात नहीं हुई। भैया, मैं और मधुर—तीनों ने सेकेंड शो में 'आवारा' देखी। नावेल्टी में। भैया रिक्शे पर मुझे घर तक छोड़ गये थे। मधुर ने बहुत ज़िद की कि मैं भी ऑफ़िस ही चला चलूँ। परन्तु आजकल जाने कैसी मनःस्थिति में घिर गया हूँ कि ऑफ़िस का वातावरण काट खाने को दौड़ता है। इसलिये माँ की अस्वस्थता का बहाना कर दिया।

और अभी, लिखते समय, मन में जाने क्यों हुआ—मधुर भी बदल रहा है....भैया के प्रति उसके विचारों में क्या परिवर्तन भी संभव है? सोचा ही नहीं जा सकता था। यह बात कभी मेरे ध्यान में आयी ही नहीं थी। मगर आज सहसा ही ऐसा क्यों लगने लगा है?....

हे, भगवान! क्या तेरी दुनिया में सब कुछ संभव है?....

* *

पन्द्रह-बीस दिनों बाद, आज डायरी लेकर बैठा हूँ। इस बीच, मधुर की जीजी के कई पत्र आये। भैया के कई पत्रों को मैंने पोस्ट किया। भैया ने इन पन्द्रह-बीस दिनों के दरम्यान मुझसे अपने हृदय के कण-कण से परिचित करा दिया है। आज, कलम लेकर डायरी के सामने बैठा हूँ तो आँखों के समक्ष रह-रहकर अन्धकार-सा छा जाता है। अपने हृदय पर हुए एक-एक घाव को भैया जब उधेड़ कर दिखलाने लगते थे तो रो पड़ते थे।

उफ् !—सरलता और स्नेह के प्रतीक मेरे भैया ने, अपने हृदय पर कितना असह्य बोझ लाद रखा है ! वे जीवित कैसे हैं, आश्चर्य होता है।

मधुर की जीजी और भैया के अनुराग की बात, बहुत दिनों तक छिपी न रह सकी। भैया ने बतलाया—जग्गनजी ने आरंभ से ही इस मामले में, अपना विरोध प्रकट किया। केवल उनके विरोधी होने से भैया को कोई खास असुविधा नहीं होती। भैया उन्हें अपने अनुकूल बना ही लेते। परन्तु उन्होंने अपने विरोध को, अपने ही तक सीमित नहीं रखा।

ब्रजकुमार शास्त्री को 'सावधान' करने का काम पता नहीं किसने किया ? धीरे-धीरे परिवार और कतिपय रिश्तेदारों में भी भैया का यह 'कलंक' प्रसारित हो गया। और अब स्थिति ऐसी हो गयी थी कि भैया के प्राणों में घुटन भर रही है...उनका चारों ओर से सिमटना, अलग होना....अपने लहू से सिञ्चित चिनगारी-प्रकाशन में उनके महत्व की कारुणिक अवहेलना !—सब कुछ मेरी आँखों के समक्ष स्पष्ट हो आया है।

भैया ने कहा था—"केशर, मैंने जग्गन से स्वयं सब-कुछ स्पष्ट कर दिया था, इस आशा से कि छोटा भाई है, मेरे दर्द को अपना समझेगा और उसका सहयोग पाकर मैं अपने में शक्ति अनुभव करने लगूँगा। दुनिया के सम्मिलित विरोध से एक बार जमकर मोर्चा लूँगा और फिर जो होता, देखा जाता....पर मेरे विश्वास की कद्र न कर सका वह !"

"और वह सोचता है, मधुर की जीजी ने मुझे बरगलाया है.... बेवकूफ बनाकर मुझे लूट लेने का षड्यंत्र किया है उसने....तुमसे सच कहता हूँ केशर, अगर संभव होता तो उसको अपना कलेजा चीरकर दिखला देता कि उसके आरोप कितने भ्रमपूर्ण हैं....

तुम्हें आशा है केशर कि मुझे कोई बाह्य आकर्षण और वासना का सब्जबाग दिखला कर लूट सकता है? मेरे मन के दर्द को समझने के लिये उसके पास आँखें होतीं; हृदय में संवेदना होती तो समझ पाता कि मैं हूँ क्या? किस मिट्टी में मेरा निर्माण हुआ है...."

"भैया!"

"बोलो, केशर!"

"आपने अपने को इतना समेटा ही क्यों?" उनकी पीड़ा, छटपटाहट और घुट रहे आक्रोश ने मुझे विचलित कर दिया था। अपने स्नेहमय भैया को मैंने जिस दाहकता में तड़पता देखा है—वह, कितना रोमांचक है। मन की करुणा मुख से आवेग बनकर फूटी पड़ रही थी—"आप किसी की परवाह ही क्यों करते हैं....हाँ, आपको क्या मधुर की जीजी पर पूर्ण विश्वास है?"

जाने किस झोंक में आकर भैया से यह प्रश्न पूछ बैठा था। मैंने देखा, मेरे प्रश्न पर भैया अन्दर ही अन्दर तड़प उठे। मेरे शब्दों ने उन्हें गहरी चोट पहुँचाई थी। आन्तरिक पीड़ा की आभा उनकी आँखों में मैं स्पष्ट देख रहा था।

बहुत देर बाद—"तुम्हें ऐसा लगता है क्या केशर!"

"भैया...."

वे अब सम्हल चुके थे—"ठीक है, जब दुनिया को मुझ पर ही विश्वास नहीं रह गया है तो उस बेचारी की तो बात ही दूसरी है। मेरी आँखें, परख में कभी धोखा नहीं खायेंगी, इसका विश्वास रखो तुम। और जिस दिन वे मुझे धोखा देंगी, मेरा अस्तित्व मिट कर रह जायगा। जाने दो इसे। मैं तुम्हें बतला रहा था, जगन की बात....मेरे मन में, उसके प्रति कोई द्वेष नहीं है। उसने जो भी किया है, अपना कर्त्तव्य समझ कर। परिवार से मैं हमेशा ही कटा-सा रहा हूँ। सारी जिम्मे-

दारी, छोटा होते हुए भी वही वहन करता रहा है। इतना बड़ा परिवार है, समाजिक-बन्धनों का दास होने को विवश तो होना ही होगा उसे....समझ रहे हो न ?"

"जी !" मेरे मुँह से निकल गया था। अब तक भैया को मैंने, एवरेस्ट-सा ऊँचा, अविजित ही देखा था, माना था मगर उस दिन मेरे सामने जो मूर्ति थी, वह....वह तो अपनी ऊँचाइयों से रिक्त और अविजित-भावनाओं से शून्य ही दीख रही थी। वे उस नन्हें बच्चे के समान हो गये थे, जो आकाश पर चमकते चाँद को भी अपना खिलौना ही मानता है। इस समय अनजाने, उनके लिये इतनी अजीब-सी उपमा लिख गया हूँ। क्या मेरे भैया, इतने लघु हो गये हैं ? 'इश्क़ ने ग़ालिब निकम्मा कर दिया, वर्ना हम भी आदमी थे काम के' इस शेर को अक्सर मज़ाकिया लहजे में इस्तेमाल होते सुना है। परन्तु उसके मर्म में, कितनी गम्भीर अनुभूति भरी है, आज, डायरी के पन्ने रँगते समय जान पाया हूँ। प्यार को यह नादान, ज़ालिम दुनिया मज़ाक ही तो समझती है ! मेरे महाप्राण, महाकीर्ति भैया को निकम्मा ही तो समझा जा रहा है ? अरे, मैं तो आत्म-समीक्षण में ही फँसता जा रहा हूँ....मन में आता है, डायरी-वायरी फाड़ कर फेंक दूँ और इस नामाकूल आदत से अपना पिंड छुड़ा लूँ.... मगर नहीं। ऐसा न कर सकूँगा मैं....

हाँ तो, भैया और मधुर की जीजी को लेकर देखते ही देखते तूफान-सा वर्पा हो गया। ब्रजकुमार शास्त्री के भड़क उठने का साधन तैयार हुआ और वे भड़क भी उठे। उनकी ओर से भैया को धमकियाँ दी गयीं। मधुर की जीजी पर कठोर नियन्त्रण रखा जाने लगा। पर इन सब का, दो में से किसी पर भी कोई प्रभाव नहीं पड़ सका। बात बढ़ती ही गयी। आफ़िस में आने के बाद, ब्रजकुमार शास्त्री बगल ही

के एक मकान में रहने लगे थे। ऑफ़िस के साथ उन्होंने उस मकान को भी छोड़ दिया....

भैया और मधुर की जीजी—दोनों ही नियन्त्रण में कस गये थे। नियन्त्रण जब असह्य हो गया तो भैया ने कहीं भाग जाने का निश्चय कर लिया....परिवार, घर, चिनगारी, मित्रों—भैया के अन्तस में धँसे अनुराग ने सारे मोह को पराजित कर, विजय पायी थी। बिना भविष्य का कोई कार्यक्रम बनाये, अनुराग की लहर में उन्होंने बनारस छोड़ दिया....भैया का अनुमान है, जिन पर उन्होंने अपना समझ कर विश्वास किया था और जिन्हें सब कुछ बतला दिया था—उन्हीं के द्वारा भेद खोल दिया गया। फलस्वरूप इलाहाबाद में, मधुर की जीजी के साथ ही वे पकड़ लिये गये। भैया ने अड़ना चाहा पर स्थिति हाथों से छूट चुकी थी....अन्ततः हृदय में धँसे अनुराग की तस्वीर को वहीं छोड़, हारे, निराश, लुटे और उद्भ्रान्त भैया को बनारस वापस आ जाना पड़ा।

सुनाते सुनाते भैया की आँखें भर आयी थीं। मन की टीस को सह पाना कठिन हो रहा था उनके लिये।

भैया ने क्या अनुचित किया था?

बन्दु-बान्धवों, पत्नी, बच्चों और सबसे बढ़कर अपने लहू से सींची गयी 'चिनगारी' के मोह से क्या मधुर की जीजी का अनुराग महत् था?....भैया के उन विश्वासहन्ता 'अपनों' को भुला पाना भी सम्भव नहीं हो पाता। भैया ने जो मार्ग चुना था, वह कंटकाकीर्ण था, इसमें कोई सन्देह नहीं। बहुत संभव था, उनके इस निश्चय की सफलता पर 'चिनगारी' डूब जाती, लम्बे-चौड़े परिवार पर संकट के बादल घहरा उठते....

सोचने के साथ ही, भैया के वे शब्द भी नहीं भूल पाते—

"केशर, सब कुछ होते हुए भी मैं घर-परिवार के प्रति अपने

कर्तव्य को भूला नहीं था....मेरे हाथों में क्या नहीं था। अगर चाहता तो यहीं बैठा-बैठा, दुनिया के सीने पर लात मारकर, अपने मन के अन्धकार को ज्योतिमान बना सकता था। मेरा कोई भी कुछ बिगाड़ नहीं सकता था। परन्तु मैंने केवल अपने को अलग किया था, करना चाहा था, कुछ दिनों के लिये...."

जिसे सब भैया का पतन कहते हैं, उन्हें बरगलाये जाने का आरोप करते हैं....क्या वस्तुतः ठीक है?—नहीं। मेरे महाप्राण भैया ने न तो कुछ अनुचित किया और न ही किसी के प्रति अपने को कर्तव्य-हन्ता ही प्रमाणित किया था।

अपने अनुराग में डूब कर भी वे सामाजिक-कर्तव्यों से च्युत अपने को कभी नहीं होने देते। प्यार में मात्र वासना—अन्धवासना होती है, एक नहीं हजार उदाहरण भले ही दिये जा सकें; परन्तु भैया भी क्या अन्ध-वासना के शिकार हुए हैं?—उफ्, इन ज़ालिमों ने यह सोच कैसे लिया?

यह तो अकल्पनीय है। पन्द्रह-बीस ही दिन हुए, जब वे मेरे समक्ष पूर्णतया खुले हैं; पर इन्हीं चंद दिनों के अनुभवों ने मेरी उमर को कम से कम बीस वर्ष आगे बढ़ा दिया है। भैया के हृदय की दह-कती हुई ज्वाला की अनुभूति में मेरी उमर का कच्चापन पक गया है।

अन्तस् की तमिस्रा में मेरे भैया ऐसे ही उभ-चुभ करते एक दिन डूब जायेंगे!

उनका अस्तित्व, यह खूनी तमिस्रा चाट जायेगी....उनकी आकाश-चुम्बी कीर्ति, उनकी साधनावीर 'चिनगारी', उनके विमल स्नेह के भूखे हम, हमारे जैसे अनेक—निस्सहाय हो जायेंगे!!

आह!

रात बड़े तेज़ क़दमों से भागी जा रही है। नींद में ग़ाफ़िल पड़ी दुनिया क्या जाने।

मन करता है, अभी भागकर अपने भैया की गोद में जा पड़ूँ.... कानों में कोई पिघले हुए, उत्तप्त सीसे की भाँति उड़ेले जा रहा है—भाग केशर, भाग, तेरा भैया डूबा जा रहा है, डूबा जा रहा है....

नहीं, नहीं, नहीं। मेरे रोमकूपों से चीत्कार फूटा पड़ रहा है.... ऐसा नहीं होगा....भैया अपने को डूबने नहीं देंगे, हम सबको निस्सहाय कभी न करेंगे....

* *

आजकल काम में मन एकदम नहीं लगता आज जग्गनजी ने दबे-दबे स्वर में मेरे इस उखड़ेपन का संकेत किया तो अपने को उबल उठने से रोक पाना कठिन हो गया। तभी भैया आ गये और जग्गनजी ने बात को हँसी में समेट-सा लिया। ऑफ़िस में, आये दिन नये चेहरे दीखने लगे हैं मगर जग्गनजी को जाने क्यों कोई सूट ही नहीं कर पाता। नये चेहरे आते हैं और चले भी जाते हैं। न तो इस ओर भैया ही कोई दिलचस्पी ले पाते हैं और न मैं अपने को उधर उन्मुख करने की आवश्यकता ही महसूस कर पाता हूँ। तीनों पत्रिकायें निकलती जा रही हैं। जैसे उन्हें निकलना ही है, बस, इसीलिये। मधुर को भी आजकल, भैया के निकट कम और जे० पी० भाई की ओर अधिक दिलचस्पी लेता देखता हूँ। इस लड़के में लगता है, अपनापन कुछ है ही नहीं। ठीक फुटबाल-सा हो रहा है, जिधर भी ढाल मिला उधर ही लुढ़क पड़ा! वैसे भैया से, मुझसे वह पूर्ववतः स्नेह वसूल कर लेता है। सब कुछ बदलता जा रहा है इसलिये इस ओर ध्यान देना मैं आवश्यक तो नहीं समझता पर भैया के सर्वोपरि नैकट्य का अधिकारी होने के बाद भी, वह अपने में गंभीरता, स्थिरता नहीं ला पाया, सोचकर आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता। भैया के अवसादमय जीवन का असर क्या उस पर एकदम नहीं पड़ना चाहिए? सोचता हूँ तो हैरत में पड़ जाता हूँ।

भैया के रूम में गया तो मन का द्वन्द्व फूट-सा पड़ा—"भैया, इस मधुर को क्या हुआ है ?"

"क्यों ?" उन्होंने बिना चौंके ही कह दिया।

"वह भी बदल रहा है इधर। आपके पास बहुत कम रहता है। रात दिन जग्गनजी के पीछे बँधा-सा रहता है। मुझे यह सब बड़ा अजीब लगता है...."

"हूँ !" करके रह गये वे। मैं उनसे समाधान पाने को उतावला-सा हो रहा था। मगर देखा, अभी उनका इस सम्बन्ध में मूड जम नहीं रहा है तो अपने को ज़बरदस्ती शान्त कर लिया।

मधुर की जीजी की एक चिट्ठी आयी थी। उसे भैया को दिया तो उनमें जैसे नवजीवन लहरा उठा। जैसे दसियों दिन के भूखे के सामने भोजन की थाली आ गयी हो, उसी उतावली से वे पूरा पत्र पढ़ गये। एक नहीं, अनेक बार। सामने बैठा-बैठा उनके गमगीन चेहरे पर चमकनेवाले उस उल्लास को मैं देखता रहा और सोचता रहा—अगर मेरा वश चले तो ऐसा एक पत्र रोज ही अपने भैया को दिया करूँ। किसी भी कीमत पर उनके रूठे उल्लास और पल्ला छुड़ा लेनेवाली जीवनी-शक्ति को काश, मैं लौटा पाता! उस पत्र में क्या लिखा है, आज न जाने क्यों, जानने को विकल हो उठा था मैं।

भैया ने मेरी विकलता को ताड़ ही लिया—"देखना चाहते हो केशर, अपनी भाभी का पत्र ?"

"नहीं, नहीं तो !"

"झूठ कहते हो...."

"हाँ, भैया...."

"यह कैसे सोच लिया था कि मैं तुमसे अपना कुछ गुप्त रखना चाहता हूँ। तुम्हीं तो एक बच रहे हो, जिसे अपना समझता हूँ.... तुम्हें ही तो अपने मन की पीड़ा का साझीदार समझता हूँ मेरे भाई।

लो, देखो, और फिर बतलाओ कि क्या अब भी रानी के लिये तुम्हारे मन में किसी प्रकार की शंका बच रही है...."

एक ही साँस में पूरा पत्र पढ़ गया मैं।

मधुर की जीजी ने अपनी घुट रही ज़िन्दगी के विषय में बड़ा ही कारुणिक चित्र खींचा था, अपने उस पत्र में। बार-बार भैया के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में अपनी चिन्ता, बेकली प्रकट की थी। वे ठीक से खाना खाते हैं या नहीं?....ठीक समय पर सोते हैं या नहीं....जाने कितनी बातें, कितने प्रश्न....मर्म को छू गये थे। साथ ही उन्होंने व्रज-कुमार शास्त्री के प्रति भैया को सतर्क रहने की हिदायत भी दी थी। शास्त्रीजी की किसी भी बात, किसी भी वादे पर विश्वास भैया को कभी नहीं करना चाहिए—कड़ी चेतावनी....

पत्र पढ़ने के उपरान्त बहुत अशान्त हो गया था मैं।

"पढ़ लिया?"

"हाँ!" मैंने कहा था—"पर शास्त्रीजी से आपको क्या मतलब? वे क्या आपसे मिलते हैं?"

"हाँ!"

"क्यों?" मैं बुरी तरह आशंकित हो उठा था।

वे देर तक शून्य में आँखें टिकाये कुछ सोचते-से रहे। उनकी उस मुद्रा की ओर मुझसे देखा नहीं जा रहा था। कुछ देर बाद, उन्होंने शास्त्री जी के सम्बन्ध में जो कुछ बतलाया, वह मुझे झकझोर देने को पर्याप्त था। शास्त्री जी उनसे, मधुर की जीजी का सौदा कर रहे थे! ५००० रुपये पर!!

"आप कहते क्या हैं?....वह आपको धोखा देना चाहते हैं.... उनकी नीयत मुझे ठीक नहीं मालूम होती। भला ऐसा कभी संभव है?"

"सुनो तो!" वे बहुत गंभीर होकर कहने लगे—"मधुर की

जीजी और शास्त्रीजी के बीच समझौता किसी भी हालत में संभव नहीं। इसे शास्त्रीजी अब समझ चुके हैं। अपनी अज्ञता का अनुभव भी करने लगे हैं और ऐसी स्थिति में, अगर वे मेरे रास्ते से हट जाने का विचार करते हैं तो इसमें आश्चर्य की कोई बात मुझे तो नहीं दीखती। मुझसे इसी सम्बन्ध में अनेक बार मिल भी चुके हैं। रुपये पाकर वे अलग हो जाते हैं तो...."

"पर मधुर की जीजी ने भी तो इस सम्बन्ध में आपको चेतावनी दी है!"

"वह पागल हो गयी है। मुझसे दूर रहने पर, जाने कहाँ-कहाँ की बातें सोचा करती है। एक बार यहाँ तक लिख दिया था पगली ने कि मेरे खून के प्यासों की कमी नहीं....तुम्हीं बतलाओ, मैंने किसी का क्या बिगाड़ा है, जो मेरे खून का प्यासा होगा....असल में, मेरे लिये उसके मन में इतनी आशंका भर गयी है कि उसे किसी पर भी विश्वास नहीं रह गया है, सभी को मेरी जान का दुश्मन मान बैठी है।"

वे सचमुच इतने भोले हो गये हैं, इतने निर्बोध हो गये हैं कि कोई भी थोड़ी आशा दिलाकर उन्हें अपने अनुकूल बना ले सकता है। उनका यह भोलापन, उनकी यह निर्बोधता कभी खतरनाक साबित होगी—यह आशंका मुझे विचलित बनाये दे रही है।

मधुर की जीजी के सम्बन्ध में, मेरे मन में जो आशंका भर उठी थी, अविश्वास की जो झीनी परत मस्तिष्क को रह-रहकर अच्छादित कर देती थी, वह आज बहुत कुछ छँट गयी। फिर भी जाने क्यों, उनके प्रति मन में श्रद्धा नहीं हो पाती। न चाहने पर भी, लगता है, अगर वे मेरे भैया के जीवन-पथपर न आयी होतीं तो ये सारे हिलाकर रख देनेवाले परिवर्तन कभी न होते।

मगर नहीं, उनको दोष देना, अनुचित भी तो है। अवसाद

की लपटों में अगर भैया भस्म हो रहे हैं तो उनकी अवस्था भी बहुत अच्छी नहीं है। पति (वह चाहे जैसा भी हो, नारी का एक-मात्र अवलम्ब तो होता ही है) छूटा, माता-पिता का सहारा भी त्रासदायक ही हो गया होगा....और फिर मेरे भैया बच्चे नहीं हैं कि केवल बाह्याकर्षण में पड़कर अपने आह्लादमय जीवन में आग लगाने को तुल पड़े हों। अगर यह दोष है तो दोनों ही ओर से हुआ है; अगर शुद्ध और आन्तरिक अनुराग है तो दोनों ने ही उसमें गाँठें लगायी हैं ?

पर यह शास्त्री क्या हैं ?

भैया का जो खयाल उनके प्रति है, क्या वह ठीक है ?

नहीं, नहीं—ऐसा कभी संभव नहीं है। पर भैया का आत्म-विश्वास ?....

* *

आज मन ही मन इतना उद्वेलित रहा हूँ कि कैसे यह दिन, शाम बीती है, कहना कठिन है। ऑफ़िस आते ही मालूम हुआ, भैया की सोनें की जंजीर, जिसे वे सदैव गले में पहने रहते थे, रात ही गायब हो गयी। भैया बाहर ही बैठे थे। अरे, एक मामूली-सी सोने की जंजीर खो जाने का इतना बड़ा शाक उन्हें लगा है! उनके मुख की ओर देखते ही सोचने को विवश हो उठना पड़ा। और वस्तुतः ऐसा था भी नहीं। मेरे आते ही भैया अपने कमरे में चले गये। मैं भी उनके पास पहुँचने से अपने को रोक नहीं सका। बात खुली तो सन्न रह गया। रात को, मेरे चले जाने के बाद, किसी बात को लेकर मधुर और भैया के बीच झगड़ा हो गया। मधुर ने कई लोगों के सामने ही उन्हें अपमानित किया। जग्गन जी भी थे। आवेश में आकर आगे बढ़ने को हुए भी पर भैया ने, उस मामले में

किसी का हस्तक्षेप बर्दाश्त नहीं किया....हाँ, इतना अवश्य हुआ कि मधुर को उन्होंने अपने से अलग कर दिया। उसी झमेले में; भैया के गले की जंजीर भी कहीं गिर गयी, जो बहुत खोजने पर भी न मिल सकी....

"पर भैया, उस लौंडे का इतना साहस....मैं होता तो सच कहता हूँ, उसकी हड्डी-पसली एक करके रख देता....बेईमान कहीं का !"

"नहीं ! तुम होते भी तो मैं तुम्हारा हस्तक्षेप सह नहीं पाता.... उसे सजा देने की पर्याप्त शक्ति मुझमें थी....हटाओ जाने दो, अब इस बात का कोई दुःख नहीं। मधुर के लिये मैंने इतना किया तो क्या उसे भी कुछ करने का अधिकार नहीं, अपने स्नेह का बदला श्रद्धा रूप में पाने का मैं अधिकारी भी कहा रहा हूँ ?"

"यह सब हुआ क्योंकर ?"

"जैसे और सारी बातें हो रही हैं...." उन्होंने जो कुछ भी हुआ, हो रहा था—सब बड़े स्वाभाविक रूप से स्वीकार कर लेने की आदत ही डाल ली थी।

भैया के प्रति मधुर इतना जघन्य-कृत्य भी कर सकता है ?

किसने सोचा था।

इस दुनिया के क्या-क्या रूप अभी देखने को मिलेंगे—उफ् !

भैया ने मधुर को माफ कर दिया है मगर मैं उसे शायद कभी माफ़ न कर सकूँ....

आज अशेष का पत्र आया है....आवारा का भी और भैया काश्यप का भी।

सभी भैया के लिए बेतहर चिन्तित हैं।

* *

आजकल घटनायें बड़ी तीव्रगति से घट रही हैं। भैया ने मधुर की

जीजी को लिखे एक पत्र के लिफाफे में, दस-दस रुपये के दो नोट भी रख दिये थे। मैं शायद था नहीं, इसलिये उसे पोस्ट करने के लिये बिरजू नामक एक लड़के (नौकर) को पोस्ट करने के लिये भेजा था। जग्गनजी को बिरजुवा पर सन्देह हुआ और वह लिफाफा उनके हाथों पड़ गया।....

आज भैया ने मुझसे बतलाया कि उस घटना को लेकर कितनी झंझट हुई थी।

'आप पैसे बरबाद करते हैं' आरोपित करके जग्गनजी ने पैसे-वैसे के मामले में अपना हाथ कस लिया है। मगर भैया ने बहुत पहले ही सारा अधिकार उनको को सौंप दिया है।

भैया कहते रहे—"जानते हो, इस षड्यन्त्र में, जग्गन के साथ ही मधुरवा भी सम्मिलित था। मेरे उस पत्र की नक़ल करके, त्रिलोक की अम्मा को सुनाया गया और न जाने किस-किस को...."

अपने निर्माता—अपने दुनिया में सबसे बड़े स्नेही के प्रति यह ग़द्दारी करके मधुर किसी दिन पश्चात्ताप के आँसू रोयेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं।

और ये जग्गनजी!—यह सब क्या कर रहे हैं?

* *

आज अचानक ही गुदौलिया पर देखा—मधुर और जग्गनजी रिक्शे पर कहीं जा रहे हैं। जड़वत् खड़ा रह गया। मधुर के लिये जो असंतोष अब तक मन में उमड़ रहा था, वह बुरी तरह भभककर रह गया।

भैया से कहा तो बोले—मुझे मालूम है। वह मुझसे अलग होकर अब जग्गन के सम्पर्क में खिंच रहा है। सब मुझे बेवकूफ समझ

रहे हैं, मगर मैं उनकी एक-एक हरकत का पता रखता हूँ....जाने दो केशर, यह तो होता ही रहता है !

* *

इन बीते पाँच-सात दिनों में डायरी छूने की जाने क्यों हिम्मत ही नहीं हो पायी थी। शाम को रास्ते में मधुर मिल गया। रूखा-सूखा चेहरा बनाये खड़ा था। मैं कतराकर निकल जाने को हुआ पर उसने आगे से होकर मुझे रोक लिया।

"आप क्या मुझसे इतनी घृणा करने लगे हैं कि मेरी दो बातें सुनना भी गवाँरा नहीं करेंगे...."

"कहो !" मेरा स्वर अत्यन्त रुक्ष था—"क्या कहना चाहते हो ?"

"मेरे साथ आयेंगे ?"

"कहाँ ?"

"कुछ बातें करूँगा....ऐसे सड़क पर खड़े-खड़े तो...."

कुछ देर तक मौन खड़ा सोचता रहा। फिर जाने कैसे उसके साथ चलने को तैयार हो गया। वह कहना क्या चाहता है ?—यही उत्सुकता मुझे खींच ले गयी थी उसके साथ। अपनी छोटी बहन के रामापुरा वाले घर आकर उसने मुझे बैठने को कहा। उसके कई बार कहने पर बैठा।

"केशरजी, आप मुझसे घृणा करते हैं न ? मैं जानता हूँ, इधर मुझसे कुछ ऐसे अपराध हुए हैं कि किसी को भी घृणा ही होगी। भैया के बाद मैंने आपसे ही स्नेह पाया है, यह जानता हूँ और इसी नाते आपको यहाँ तक ले भी आया हूँ...."

"मैं अधिक देर रुकूँगा नहीं। तुम्हें जो कुछ भी कहना हो, संक्षेप में कह डालो। जिस स्नेह की तुम बार-बार दुहाई देते हो, अगर उसकी कद्र कर सकने की तुममें लियाकत होती तो ऐसी अकल्प-

नीय घटनायें नहीं घट पातीं। देवतास्वरूप भैया के विमल-स्नेह मे तुमने लात मारी है, इससे बढ़कर तुम्हारा दुर्भाग्य और होगा भी क्या ?" जाने क्या-क्या एक ही साँस में बक गया था मैं। वह चुप-चाप सुनता रहा।

क़रीब दो घंटे बाद, मैं उठा तो मन के जलते हुए क्षोभ पर पानी-सा पड़ चुका था। मधुर मेरे साथ ही था। मधुर ने भैया, अपनी जीजी, अपनी और जग्गनजी की 'रामकहानी' बड़े विस्तार से सुनायी है। अपनी दुर्बलताओं को भी उसने छिपाया नहीं। भैया अपने अवसाद में, इतने अस्थिर-चित्त हो गये हैं कि मधुर के स्थान पर अगर मैं ही होता तो अपने को जब्त करना कठिन हो जाता। भैया अपना पत्र-व्यवहार उसी के माध्यम से करते थे। वे जैसे भी हो, उसकी जीजी को अपने पास बुलाना चाहते थे। उनका विचार था, मधुर अगर चाहे तो, उनकी बन्धन-मुक्ति संभव हो जाय। मधुर ने बतलाया—उनके लिये मैं कुछ भी करने को तैयार था, हूँ भी; परन्तु एकबारगी घरवालों से, इतना भयंकर विरोध करने के लिये थोड़े सोच-विचार की आवश्यकता क्या नहीं है ? पर वे हैं कि एकदम सारा कार्य कर डालने को पागल हो गये है। जीजी पर घरवाले, स्वयं शास्त्री जी कड़ा नियंत्रण रख रहे हैं। मेरी ओर से उन लोगों का दिमाग तो फिर ही चुका है। आप ही बतलाइए, मैं कैसे क्या करता ?

उसदिन के अपने दुर्व्यवहार के लिये वह पश्चात्ताप-दग्ध हो रहा था स्वयं।

उसने काँपते स्वर में कहा था—केशरजी, मुझसे भैया का अप-मान हुआ हुआ है, ऐसा अपमान, जिसकी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता....उसके लिये आप जो भी चाहें, मुझे दंड दे लें, स्वीकार करूँगा....

जे० पी० साहब की घनिष्ठता के सम्बन्ध में वह कोई संतोषजनक उत्तर नहीं दे सका। मैंने उस ओर अधिक दिलचस्पी भी नहीं दिखलाई।

विदा हुआ तो उसने मुझसे वचन ले लिया कि हमारी भेंट का पता भैया को न चले।

और इस समय, लिखते समय, परस्पर विरोधी-विचारों की टकराहट में, मानसिक संतुलन अस्थिर-सा होता जा रहा है। विचित्र भूलभुलैया में जा पड़ा हूँ—

अपने स्थान पर भैया भी सही दीखते हैं, जगनजी भी और वह मधुर भी....भैया का अवसादाच्छन्न जीवन देखता हूँ तो जगनजी, मधुर और सारे के सारे लोग अपराधी-से प्रतीत होने लगते हैं। और जब अपने को, उन सब की भूमिका में अलग-अलग फिट करके विचार करता हूँ तो किसी को अपराधी मानने को मन गवाही नहीं देना चाहता।

* *

भैया ने मधुर को अपने पास बुला लिया है। मधुर का कुछ सामान, इलाहाबाद में प्यारेलाल आवारा के यहाँ पड़ा था, जिसे लेने के लिये भैया के कहने पर, मधुर के साथ मुझे भी जाना पड़ा।

आज ही लौटा हूँ।

* *

मधुर का एक कोई रिश्तेदार है, जिसके माध्यम से उसकी जीजी को यहाँ बुलाने की योजना बनी है। मधुर ने पत्र द्वारा, अपने उस

रिश्तेदार को बनारस बुलाया है। भैया आज कल कुछ प्रसन्न और बहुत उत्साहित दीखते हैं।

भैया ने जगन्नाथ बारी नाम के एक व्यक्ति को अपना 'प्राइवेट सेक्रेट्री' बनाया है। जाहिल आदमी है। कम्पोजिंग का काम करता था। भैया की यह दरियादिली जाने क्यों, मैं पसन्द नहीं कर पाता। बारी उनकी गुप्त से गुप्त बात की जानकारी रखने का दावा करता फिरता है। भैया का मुँहलगा होने के कारण, बड़ी शान उछालता फिरता है। आज, ऑफ़िस में, मैंने बुरी तरह हजरत को डाँट दिया है। लपका-लपका भैया से शिकायत करने गया और जब वापस लौटा तो लगता था, मुँह पर तमाचे लगे हों! पता चला, मेरी शिकायत करने लगा तो भैया ने भी बेतरह डाँटा-फटकारा था बेचारे को। आदमी भला है। थोड़ा दुख हुआ।

* *

मधुर का वह रिश्तेदार आया। एक दिन मेरे ही घर पर टिका रहा। उसके साथ भैया ने पहली बार मेरे यहाँ भोजन किया। मुझे आदमी बुद्धू टाइप का लगा। उसके किये-कराये कुछ होगा नहीं।

यद्यपि उसका आना बहुत गुप्त रखा गया था तथापि जग्गन जी को पता लग ही गया। कैसे? क्या मधुर के द्वारा?....

* *

मधुर के उस रिश्तेदार ने विश्वास दिलाया था कि यहाँ से जाते ही वह ऐसी कोई व्यवस्था अवश्य कर देगा, जिससे मधुर की जीजी बनारस पहुँच जायँ....निश्चित दिन, मधुर, प्यारेलाल और बारी को भैया ने सुलतान गंज स्टेशन पर भेजा मगर उन्हें निराश लौटना पड़ा।

मेरी आशंका ठीक ही उतरी। उस कायर आदमी के किये शायद कुछ हो नहीं पाया।

पर भैया को अब भी विश्वास है कि वह सफल अवश्य होगा।

* *

मधुर आ तो गया है; पर कटा-कटा रहता है, भैया से। यह, अपने दुर्व्यवहारों का पश्चात्ताप तो नहीं है उसका?....या कोई और बात। सच, मुझे आजकल कोई अच्छा नहीं लगता—सभी अत्याचारी प्रतीत होते हैं। मेरे भैया से कोई सहानुभूति नहीं रखता....और यह सब हुआ है, प्रेम के कारण। क्या किसी से प्रेम करना इतना गर्हित, इतना अपमानक होता है? क्या प्रेम से अपने, बेगाने होकर रह जाते हैं। अजीब बात है।

* *

मधुर की जीजी एक न एक दिन आयेंगी जरूर....वह 'बिहारी-सहायक' कभी न कभी अपने प्रयत्न में सफल अवश्य होगा। भैया को विश्वास है। उधर से आनेवाली ट्रेनों के समय पर मुझे साथ लेकर वे स्टेशन पहुँच जाते हैं, नित्य ही। मधुर की जीजी के आने पर, मेरे घर रखने की व्यवस्था वे पहले ही ठीक कर चुके हैं। बाद में, उनका विचार बम्बई को अपना कार्य क्षेत्र बनाने का है। वहीं से एक नयी पत्रिका निकालने का विचार भी है उनका....मैं, मधुर और मधुर की जीजी—सब बम्बई में ही रहेंगे।

पर क्या यह सब संभव है? सोचकर मन डूब जाता है।

* *

आज शाम, घूमते समय, भैया ने बतलाया कि जग्गनजी अपने फादर-इन-लॉ के साथ, समझाने आये थे कि वे मधुर की जीजी

को भूल जाँय....अगर चाहें तो कोई अच्छी लड़की देख सुनकर दूसरी शादी कर लें। कहने लगे—मैं जानता हूँ, जग्गन, बाबूजी (जग्गन-जी के फादर-इन-लॉ, लालचन्दजी) सब मेरी भलाई के लिये ही इतने परेशान हैं। परन्तु मेरे हृदय को समझने की लियाक़त जो नहीं है उनके पास। प्रेम और शादी—उनके लिये कोई अन्तर नहीं रखते। तुमने तो सब देखा है, केशर। अगर मैं वासना का भूखा होता, सौन्दर्य की प्यास होती मुझमें तो मधुर की जीजी ही थीं !—पागल हैं, सब के सब।

* *

अपने प्रयत्नों में निराशा पाकर जग्गनजी ने भैया को अपना पूरा सहयोग देने का वचन दे दिया है। उनको अब किसी भी बात में कोई विरोध न होगा। मधुर की जीजी को बनारस ले आने के लिये वे स्वयं प्रयत्नशील होंगे !....मुझसे बतलाते समय, भैया आज बहुत संतुष्ट दीख रहे थे।....सोचा, जग्गनजी आखिर हैं तो भैया के छोटे भाई ही।

स्टेशन पर पहुँचने के नित्य के कार्यक्रम में भैया के स्थान पर अब जे० पी० भाई का ही जाना निश्चित हुआ। आज, इतनी देर तक जे० पी० भाई के साथ रहने का मेरा पहला ही मौका है। अनुभव हुआ है, जितना रूक्ष, जितना कड़ा स्वभाव दूर से देखने पर लगा था, वस्तुतः वे वैसे हैं नहीं। उनके अलमस्त, विनोदी स्वभाव ने मेरे मन का सारा मैल साफ कर दिया है। मेरी ही तरह, भैया की इस आशा पर कि मधुर की जीजी एक दिन आ जायेंगी, जे० पी० भाई को भी विश्वास नहीं। भैया का मन वे तोड़ना नहीं चाहते इसलिये जो कहते हैं, करने को तैयार रहते हैं।

जग्गनजी की अनुकूलता, मेरे पागल हो रहे भैया के लिये बड़ी शक्ति सिद्ध होगी। ऐसा लगने लगा है मुझे।

आज जब मैं और जगनजी स्टेशन की धूल फाँककर आ रहे थे तो बहुत सारी बातें हुईं। भैया को लेकर, मधुर और उसकी जीजी को लेकर। भैया के लिये जगनजी के मनमें श्रद्धा-भक्ति की कोई कमी नहीं है। मधुर की जीजी और उनके सम्बन्ध को वे बहुत अनुचित भी नहीं मानते।

"परन्तु तुम्हीं सोचो, अगर भैया इसी फेर में पड़े रहे तो हम-सब का क्या होगा? त्रिलोक की अम्मा, चाहे जैसी भी हैं; पर हैं तो वे वे भैया के पाँच-पाँच बच्चों की माँ! उन बच्चों का भविष्य अन्धकार में भटकाने को छोड़ दूँ, यह भला मुझसे करते बनेगा केशर, तुम्हीं बतलाओ!"

समर्थन के अतिरिक्त और रास्ता ही क्या था मेरे समक्ष।

एक लम्बी साँस के उपरान्त वे कहते रहे—"अब तो मैंने भी सोच लिया है, जैसा भी हो रहा है, होने दिया जाय....भैया की संतुष्टि जिसमें हो, वही करूँगा...."

नहीं, जैसा सोच रखा था, जे० पी० भाई वैसे नहीं।

मनुष्य, समाज और पारिवारिक बन्धनों से जकड़ा कितना पंगु हो जाता है। भैया अपने स्थान पर ठीक हैं, जे० पी० भाई अपने स्थान पर। फिर बेठीक कौन है? क्या सामाजिक-व्यवस्था!

* *

भैया शास्त्री जी से चुपके-चुपके मिलते रहे। जगनजी ने भैया को अपने पास से कई सौ रुपये दिये हैं....और की व्यवस्थाकर रहे हैं....भैया उन रुपयों का क्या कर रहे हैं? नहीं मालूम।

शायद शास्त्रीजी वसूल रहे हों?

क्या होगा?....क्या होनेवाला है? कल्पनामात्र से रोंगटे खड़े हो जाते हैं मेरे तो।

शास्त्रीजी पर भैया का यह भोला-अबोध (शायद उन्मादी) विश्वास किसी दिन उन्हें खतरे में डाल देगा....मगर मैं करूँ भी क्या! कर भी क्या सकता हूँ? उनकी मानसिक अवस्था दिन पर दिन सीरियस ही होती जा रही है।

जे० पी० भाई ने आज मुझे एक रिस्टवॉच भेंट की।

मन में हिचका पर जब उन्होंने जबरदस्ती पहना दी तो शान्त रह गया। भैया से जाकर कहा तो वे भी प्रसन्न ही हुए....

अब जग्गन जी भी कितने बदल गये हैं।

* *

भैया को ५००० रुपयों की अविलम्ब आवश्यकता थी। शायद शास्त्री का धैर्य अब छूट रहा है। कुबेर जी (चौधरी एण्ड संस) से उन्होंने 'जंजीर' तथा एक और उपन्यास देने का वचन देकर, एडवांस रुपये लेने की बात चलाई है। कुबेर जी सहर्ष तैयार हैं। भैया और उनके बीच बाकायदा एग्रीमेंट होने वाला है....

बात-चीत के समय मैं भी था और मधुर भी। कुबेर जी ने एक सप्ताह के अन्दर रुपयों का बन्दोबस्त कर देने को कहा है। भैया ने इस बात को जग्गन जी से गुप्त ही रखा है। जाने क्यों? मेरी समझ में नहीं आता।

'आवारा' कल आया था। आज चला गया। कुबेर जी वाले एग्रीमेंट की बात उसे भी मालूम है।

मुझे लगता है शास्त्री ने भैया को अपने शिकंजे में बुरी तरह कस लिया है। आशंकाओं का तूफान-सा उठ पड़ा है, मेरे मन में....

* *

आज कल हम सभी होली पर 'चिनगारी' का पिचकारी-अंक

निकालने में व्यस्त हैं। इस अंक के लिये भैया भी अपनी पूरी दिल·चस्पी ले रहे हैं।

कल हमारे पूरे स्टाफ़ का ग्रूप-फोटो खींचा जायगा।

इधर मधुर फिर अजीब ढंग से 'मूडी' होता जा रहा है। कभी-कभी तो उसे पीट देने की इच्छा होती है....

● ●

बस, इसके बाद, ५२ वाली डायरी-ब्रांड मेरी नोटबुक के बाकी सारे पन्ने ब्लैंक हैं। आगे की सारी कहानी आँसुओं में डूबी हुई है।

हम सब पर होनेवाला वह अनभ्र वज्रपात बहुत निकट था।

मेरे महाप्राण भैया, अपने ही लहू में सनकर एक दिन हमें फूट-फूटकर रुलाने वाले हैं!....मैं नहीं जानता था, कोई भी नहीं जानता था।

हम सब अपने स्नेहमय भैया की खूनसनी काया पर पछाड़ें खाकर, बिलख-बिलखकर संभवतः यह दर्दीली फरियाद करने को विवश होनेवाले थे—

कोई माँगता है वापस कहीं दी हुई निशानी
इसी दिन के वास्ते क्या मुझे दी थी ज़िन्दगानी

मगर मेरे महाप्राण भैया निर्मम बनकर, हमसे अपने स्नेह की अमूल्य निधि छीनकर—दूर, बहुत दूर चले जाने वाले थे....

आह!

दरो-दीवार पर हसरत की नजर रखते हैं
खुश रहो अहले-वतन हम तो सफ़र करते हैं

'चिनगारी' के पिचकारी-अंक में भैया के अन्तस में धँसा अवसाद तिरोहित-सा हो गया था। कम से कम देखने से तो ऐसा ही लगता था हम सबको। पिचकारी-अंक में, बड़े मूड में आकर उन्होंने प्रश्नोत्तर-स्तंभ के लिये कलम उठाई थी। अपने 'कबीर' में उन्होंने, चिनगारी-परिवार को 'रंग' से सराबोर कर दिया था।

मैं देखता और संतोष से भर उठता। सोचता, मेरे भैया के साथ ही 'चिनगारी' ने भी जैसे नव-जीवन पाया हो! चिन्ताओं आशंकाओं पर आवरण-सा पड़ गया था। मगर वह आवरण कितना झीना था!—सोचने लगा हूँ तो हूक-सी उठ पड़ी है।

पिचकारी-अंक निकल गया था। काम का बोझ बहुत-कुछ हलका हो गया था। शाम को, रोज की तरह भैया के ऑफ़िस में गया तो वे उद्विग्न दीखे। धक्का-सा लगा। मेरे आने का अहसास उन्हें नहीं हो पाया शायद।

मन के उद्वेग की झलक, मुख पर स्पष्ट दीख रही थी।

ऐसा क्यों? क्या कोई नयी बात हुई है?....कुछ समझ में नहीं आ रहा था। चुपचाप पास ही की आराम कुर्सी पर बैठ गया।

"भैया!"

"हाँ !" वे चौंके-से। एश-ट्रे पर रखी सिगरेट उठाकर, धुयें का गुबार उड़ाते-उड़ाते बोले—"कब से आये हो ?"

"आप आज कुछ उद्विग्न दीख रहे हैं...."

"नहीं तो !"

कमरे में पुनः मौन छा गया। उँगलियों से सिगरेट पुनः एश-ट्रे पर रख दी उन्होंने। शून्य में आँखें टिकाये चिन्तन में डूब गये थे। मुझे बड़ा बोझिल-बोझिल लगने लगा था। अन्दर ही अन्दर बेतरह अकुला गया तो—

"भैया, आपने मधुर की किसी रचना का करेक्शन करते समय लिखा था, ज़िन्दगी सबसे बड़ी मौत है !—मेरी समझ में नहीं आया। ज़िन्दगी अगर मौत है तो फिर मौत क्या हो सकती है...." उस घुट रहे मौन को भंग करने का कोई बहाना देर से ढूँढ़ रहा था सो मिल ही गया।

उन्होंने मेरी ओर ग़ौर से देखा और—"ज़िन्दगी मौत तो है ही !" कहकर मुस्करा पड़े।

"कैसे ?"

"पागल हो।" वे इजीचेयर पर ज़रा सम्हलकर बैठ गये। मुस्कान गम्भीरता में परिणत होते भी देर न लगी—"इतनी सारी कहानियाँ लिख मारीं और इतनी मामूली-सी बात को भी समझने में तुम्हें दिक्कत होती है ? अरे, केशर जी महाराज, इस बचपने को अब ताक पर रख दो और ज़रा समझ-बूझकर क़लम से खिलवाड़ किया करो !...." क्षण भर के लिये उनकी गंभीरता पर स्मिति की तरलता दीखी; फिर वही गांभीर्य—"उदाहरण भी तुम्हें खोजने की आवश्यकता नहीं। मेरी ओर देखो न, ज़िन्दगी सबसे बड़ी मौत है !—क्या अब भी तुम्हारी समझ में नहीं आ रहा है !"

"भैया !"

"हूँ !"

"मुझे जाने क्यों, बड़ा भय लगने लगा है...."

"मुझसे ?"

"हूँ !"

"अच्छा !" कह वे पुनः अपने आप में डूब गये। अपने आप में उनका यह डूब जाना कितना रोमांचक लगता था ?—आज, कल्पना करता हूँ तो हृदय में सुइयों की चुभन भर उठती है।

घण्टे भर के करीब मैं वैसे ही बैठा, कमरे में लगी तस्वीरों में जाने क्या खोजता रहा। भैया मेरी उपस्थिति का ज्ञान, संभवतः भूल गये थे। सहसा उन्होंने मेरी ओर चौंककर देखा—"अरे, केशर, अभी तक घर नहीं गये ?"

"नहीं भैया !"

"जाओ अब। माँ से बिना कहे इतनी देर न किया करो। हाँ, अगर उनकी तबियत ठीक हो तो कहते आना, कल सिनेमा या कहीं घूमने चला जायेगा। रुकना नहीं, सीधे घर चले आना।"

"मधुर कहाँ है भैया !"

"मालूम नहीं।"

मैं उठ पड़ा। बेमन से। भैया के पास से उठने की उस दिन इच्छा ही नहीं हो रही थी। उनकी मुद्रा से लगता था, जैसे वे एकान्त चाह रहे हों। दरवाजे की ओर मुड़ने को हुआ तो—"केशर, देखो, बाहर कोई हो तो एक गिलास पानी भिजवाते जाना...."

पानी भिजवा कर घर चला आया।

२६ फरवरी '५२ की वह सूनी-उदास सन्ध्या, मेरे लिये दूसरे ही दिन कितनी भयङ्कर प्रमाणित होने वाली थी ?—उफ् !

रात बुखार आ गया था मुझे। सबेरे और तेज हो गया। माँ की आँखों का आपरेशन हुआ था। वह भी पीड़ा से परेशान थी। उस

दिन ऑफिस नहीं जा पाया। मन रह-रहकर बुरी तरह घबराने लगता था। सारा शरीर पसीने-पसीने हो जाता। सोचता—बुखार के कारण हो रहा है। मगर वह न बुखार की घबराहट थी, न उसकी गरमी! छटपटाहट में दोपहर बीती और शायद चार बज रहे थे कि—

"केशर जी!" चीखता हुआ मधुर कमरे में आँधी की तरह घुसा—"कल रात भैया को किसी ने छुरा मार दिया!" वह मेरी खाट पर गिर-सा पड़ा।

मुझे जैसे किसी ने खौलते हुए तेल के कड़ाहे में ढकेल दिया। तिलमिलाकर उठ पड़ा—"छुरा....कहता क्या है मधुर!" मेरा सारा शरीर थर-थर काँप रहा था—"भैया को छुरा मार दिया?.... किसने?....कब?...."

"रात में....वे इस समय हास्पीटल में हैं...."

मुझे चक्कर-सा आ गया। मधुर ने मुझे पकड़ लिया—"अरे, आपको तो बहुत तेज़ बुखार है केशर जी!"

आँखों की पीड़ा से परेशान माँ भी घबरा गयी सुनकर।

मैंने शाल दूर फेंकी और जल्दी-जल्दी कुरता पहनने लगा—"तुमको अभी फुरसत मिली है मधुर....उफ्! क्या उनकी हालत बहुत खराब है?" मेरे मुँह से मशीन की तरह निकलता जा रहा था।

मैं चलने को तैयार हुआ तो मधुर घबराया—"पर आपको तो इतना तेज़ बुखार है...."

झपटता हुआ-सा नीचे आ गया था मैं तब तक।

रिक्शा तेज़ी से भागा जा रहा था।

"उन्हें होश था न?"

"हाँ!"

"किसका काम हो सकता है यह?"

"क्या कहा जाय...."

"कहाँ-कहाँ चोट आयी है उन्हें ?"

"पसली और सिर में !"

"उफ् !"

रास्ते भर मैं प्रश्नों की झड़ी लगाये रहा। मधुर ने मेरे माथे पर हाथ रखा तो बुखार का नामोनिशान न था। चकित हुआ होगा वह अवश्य। हास्पीटल आते-न-आते मैं रिक्शे से कूद पड़ा। आँधी की तरह फाटक पार करके वार्डों की ओर भागा। रिक्शेवाले को पैसा चुकाते-चुकाते मधुर ने पुकार कर कहा—"केशर जी, वार्ड नम्बर चार...."

वार्ड के बाहरी गलियारे में, पुलिस इंस्पेक्टर से बातें करते जे० पी० भाई मिले और भी अनेक।

सारा वार्ड मुझे कुम्हार के चाक-सा घूमता प्रतीत हुआ। भैया की बेड के पास आकर मैंने दीवार का सहारा ले लिया। पैर बुरी तरह काँपने लगे थे। आवेग के आधिक्य में मैं सिसक पड़ा। आँखों पर रूमाल रखे, लड़खड़ाते कदमों से बाहर जाने को हुआ कि—

"केशर, तुम आ गये ?" भैया की काँपती आवाज़ ने जड़वत् बना दिया—"इधर आओ, मेरे पास !"

"भैया !" रुलाई फूटने को हुई मगर भैया ने आँखों ही आँखों में बरज-सा दिया।

बेड के नीचे फर्श पर धम्म से बैठ गया मैं। पास ही स्टूल पर संभवतः बाबूजी (लालचन्द वर्मा) बैठे, भैया को पंखा झल रहे थे। मेरी रुलाई थम न सकी, फूट ही पड़ी मगर तभी एक नर्स ने मुझे पकड़ाकर बाहर कर दिया।

थोड़ी देर बाद, हृदय में प्रतिशोध की आग दहक उठी। आँखों के आँसू सूख गये। उस नीच का नाम जानने को व्याकुल हो उठा, जिसने मेरे भैया पर प्राणघाती प्रहार किया था। परन्तु उस समय

तक किसी को भी कुछ मालूम नहीं हो सका था। इस सम्बन्ध में कुछ बतलाने से उन्होंने इन्कार कर दिया था।

प्रतिशोध की आग में जल रहा हृदय लिये पुनः जब वार्ड में पहुँचा तो बहुत कुछ स्थिर हो चुका था।

"केशर, कहाँ चले गये थे तुम?....देखो, आवारा को एक तार दे दो। उसे यहाँ बुलवा लो....और मधुर, तुम कलम लेकर मेरे पास बैठो तो...." भैया काश्यप और अशेष को पत्र लिखने के बाद, मैं और मधुर आवारा को टेलिग्राम करने चले गये। वापस आये तो भैया पीड़ा से छटपटा रहे थे। उस सर्दी में भी, पसीने की बूँदें मस्तक पर चुहचुहा आयी थीं उनके।

एक ओर जे० पी० भाई, बेड पर झुके चम्मच से पानी पिला रहे थे; दूसरी ओर बैठा धर्मेन्द्र पंखा झल रहा था। हमें आये देख, उन्होंने इशारे में ही पूछा—दे आये टेलीग्राम! मैंने सिर हिलाकर बताया—हाँ!

सुनकर संतोष की एक लम्बी साँस ली उन्होंने।

मैं उस हारे हुए जुआड़ी-सा खड़ा उनकी ओर निहारता रहा, जिसका सब-कुछ समाप्त हो गया हो; मगर किसी आशा की प्रतीक्षा में आँखें बिछाये बैठा हो वहीं।

मन में अलोड़न हो रहा था—

उफ्! इतने दिनों से जो आशंका अज्ञात रूप में घुमड़ रही थी, उसकी यह परिणति होगी, क्या कभी कल्पना की थी?

नर्सों की सजग दौड़ धूप। दवाइयों की उमड़ती हुई-सी बदबू.... आस-पास के बेडों पर से उठती हुई कराहें और पीड़ा से संघर्ष-रत, मौन, निश्चल मेरे भैया!....एक ही दिन में क्या से क्या होकर रह गया?

पायताने लुटा-लुटा, खोया-खोया बैठा धीरे-धीरे भैया के पैर

दबाता रहा। थोड़ी-थोड़ी देर पर भैया के मुख से कराह का टुकड़ा-सा बाहर होता तो मैं भरी-भरी आँखों से निहारने लगता उनकी ओर।

रात के नौ बज रहे थे।

बेड के पास और कोई नहीं था, मेरे अतिरिक्त।

"केशर!"

"भैया...."

"अपनी आँखें पोंछ डालो। मुझे आँसुओं से सख्त नफ़रत है...." वे कुछ देर मौन रहे। मैंने अनुभव किया, इतना कहने में ही उन्हें थकान-सी आ गयी है। आँखें उनकी ढँप गयी थीं। मुझसे देखा न गया, दूसरी ओर आँखें फिरा लीं—"केशर, कोई चिट्ठी आयी है...."

"नहीं।"

"अच्छा...." मैंने देखा, सुनकर उनका स्वर जैसे दूर, बहुत दूर चला गया हो।

ज़िन्दगी और मौत की रस्साकशी के बीच भी किसी की याद में वे छटपटा रहे थे। उसी याद के चलते ही तो छुरे से उनका सीना चाक नहीं हुआ है?—सोचते ही, विद्युत-वेग से मानस के तार-तार में गूँज उठा—शास्त्री! मेरे मन के आलोड़न से चीत्कार फूटा—यह जघन्य कार्य करनेवाला शास्त्री के अतिरिक्त और कोई नहीं।

पर भैया ने पुलिस को क्यों नहीं सूचना दी?

क्या वे समझ नहीं पाये हैं।

नहीं। वे जानते हैं, सब समझते हैं।

उनकी पलकें ढँप गयी थीं। मैंने सोचा, शायद नींद आ गयी है उन्हें। पैर दबाना बन्द करके, बेड से उतर, स्टूल पर बैठ गया। अपनी उस समय की मनःस्थिति का सही-सही चित्रण कर पाना आज असम्भव लगता है।

मस्तक फटा-फटा पड़ रहा था।

रात भागी जा रही थी। सामनेवाले बेड पर, कल रात ही एक आदमी, जालपादेवी पर (माननीय) डा० सम्पूर्णानन्द के घर के सामने, ऊपर से पत्थर की पटिया सिर पर गिर जाने के कारण भयंकर रूप में घायल हो गया था। मधुर ने बतलाया था—जब वह घायल हुआ था, भैया उधर से गुज़र रहे थे। उस समय उन्हें क्या पता था, कुछ ही देर बाद, वे भी उसी व्यक्ति के साथियों में अपना नाम लिखाने वाले हैं!

उसके बचने की कोई उम्मीद नहीं थी। थोड़ी ही देर पहले, मैंने सिविल सर्जन चटर्जी को, डा० सेठ से कहते सुन चुका था। रह-रहकर उसकी ओर निगाह उठ जाती थी और तब जाने क्यों, अन्दर से गरमी-सी महसूस होने लगती थी। मगर नहीं, मेरे भैया को वैसा कुछ नहीं होनेवाला है!—उनके दोनों ही ज़ख्म मामूली-से ही तो हैं। बहुत जल्दी ठीक हो जायेंगे वे। यही सब सोचता हुआ, बैठा-बैठा भैया के स्याह-से पड़ गये चेहरे की ओर टकटकी लगाये था। शायद वे सो गये हैं। घर से जगमनजी, मेरे लिये खाना लेकर आये थे मगर मैंने उसे वापस कर दिया। वे, नीचे फ़र्श पर दरी बिछाकर कोई पत्रिका पढ़ने में रमने की चेष्टा कर रहे थे। दिन भर की भागम-भाग ने उन्हें क्लान्त-सा कर दिया है। वार्ड के बाहर, मैदान में और भी जाने कौन-कौन बैठे-सोये हैं। भैया के मोह में उम-सुम होते हुए-से।

"केशर!" सहसा भैया ने आँखें खोल दीं—"मेरा मन बड़ा घबरा रहा है....लगता है, बहुत गहरी नींद आने वाली है; पर वह आती नहीं...." वे बहुत बेचैन हो रहे थे।

जे० पी० भाई की आँखें लग गयी थीं शायद।

तीन-चार चम्मच पानी पीने के बाद, उनकी बेचैनी कम होने लगी।

"घड़ी में क्या बजा है ?...." कहते हुए उन्होंने शिथिल हाथ से मेरी कलाई पकड़ अपनी ओर कर ली—"अरे, बारह बज गये !.... तुम घर नहीं जाओगे क्या ?"

"नहीं भैया, आपको ऐसी दशा में छोड़ कर घर कैसे जाऊँगा भला ?"

"तुम सब पागल हो गये हो....मेरे ही साथ अपनी भी तबीयत खराब करने पर लगा है बेवकूफ ! जग्गन कहता था, तुम्हें बुखार था...."

उसी समय, वार्ड मास्टर के साथ नाइट-ड्यूटी की नर्स, दवा पिलाने और टेम्परेचर लेने के लिये आ गयी। भैया के मुँह में थर्मामीटर डाल कर नर्स ने नाड़ी देखने के लिये उनकी कलाई पर हाथ रखा तो उन्होंने झटके के साथ हाथ खींच लिया। नर्स चकित-सी उनकी ओर देखने लगी।

"क्या हुआ ?" बेचारी घबरा गयी।

"भैया, सिस्टर को नाड़ी देख लेने दो न !"

"नहीं।"

"क्यों ?" नर्स ने आश्चर्य से पूछा।

"सिस्टर, पहले इसकी नाड़ी देख लो ज़रा। बेईमान को सुबह बुखार था और इस समय इतनी रात तक बैठा है यहाँ....मैं हाथ जोड़ता हूँ सिस्टर, पहले देख कर बतलाओ कि इसे बुखार है कि नहीं ?" और उन्होंने सचमुच अपने दोनों हाथ जोड़ लिये। मेरी आँखें भर आयीं।

नर्स के ओंठों पर एक करुण मुस्कान फिसल कर रह गयी।

वार्ड मास्टर फुसफुसाया—"गजब का हार्ट पाया है भाई...."

"आपको शक हो गया है। इनकी तबीयत बिल्कुल ठीक है !" झूठ-मूठ मेरी नाड़ी देखने के बाद, जब नर्स ने कहा तो आश्वस्त हुए। टेम्परेचर नोट कर, दवा पिला कर नर्स आगे बढ़ गयी।

वार्ड मास्टर लौट-लौट कर उनकी ओर देखता जा रहा था।

"माँ कैसी हैं ?"

"बिल्कुल ठीक! मगर अब आप इन बेकार की बातों में अपने को परेशान नहीं करें...."

"लो चुप हो जाता हूँ....पानी दो!"

पानी पिलाकर मैं उनका पैर दबाने लगा धीरे-धीरे।

जैसे जैसे रात बढ़ रही थी, वैसे-वैसे उनकी बेचैनी भी बढ़ती जा रही थी। आस-पास के मरीज हैरान थे। इतनी भयंकर पीड़ा में भी वे कराह का एक टुकड़ा मुँह से बाहर नहीं होने देते थे।

उनकी इस असाधारण सहन-शक्ति से डाक्टर तक हैरान थे।

जे० पी० भाई भी उठ गये थे इस बीच। उन्होंने मुझसे दरी पर थोड़ा आराम कर लेने को कहा पर मैंने स्वीकार नहीं किया। रातभर मैं और जे० पी० भाई जागते रहे।

दूसरे दिन प्यारेलाल इलाहाबाद से आ गया।

भैया की हालत क्रमशः सीरियस ही होती जा रही थी। वे आवारा और मुझको बिहार भेजना चाहते थे। नारायणी जी को एकबार देख लेने की उनकी छटपटा रही कांक्षा की हम चाहकर भी पूर्ति नहीं कर पाये।

उस समय, नारायणी जी के लिये न तो मेरे मन में कोई अच्छी भावना थी और न आनारा के। एक तरह से हम उनके ऊपर कुपित ही थे। हत्या किसने करने का षड्यंत्र किया था, यह किसी से छिपा नहीं रह गया था। परन्तु पुलिस से इस सम्बन्ध में कोई बयान देना भैया को स्वीकार ही नहीं था।

हम उनकी सेवा में लगे रहे, डाक्टर इंजेक्शनों का धुआँधार प्रयोग करते रहे; मगर लग रहा था, अब वे थक-से रहे हों। हम-सब पर अजीब-सा नशा सवार होता जा रहा था। प्रतिशोधी-भावनाओं के

फूँकते हुए, जे० पी० भाई पुलिस की सहायता से, हत्यारों को गिरफ्तार करवाने में रात-दिन एक कर रहे थे। काश कि भैया के प्रति उनका यह यह ममत्व, यह सजगता और पहले आ जाती! उस समय संभवतः परिवार और समाज की सीमा-रेखा हिचकिचाते-से खड़े थे वे! भैया का ममत्व धूमिल भले ही पड़ गया हो; पर क्या क्षणभर को भी उनके हृदय से रिक्त हो पाया था? कदापि नहीं। वैसी स्थिति में इस समाज को समाज समझकर रहने वाली विवशता के चलते, कोई भी वही करता जो उन्होंने किया था!—यह अनुभव भैया की अन्त-शय्या के निकट रहते हम सभी करते थे।

● ●

भैया की दशा क्रमशः गिरती ही गयी। पेट का फूलना थमा नहीं। साँसों का घुटना भी कम नहीं हुआ।

इलाहाबाद से, अपनी परीक्षा को लात मार अशेष भी आ गया। अशेष को लेकर उनके निकट पहुँचा तो हालत में काफी सुधार दीख पड़ा। देखकर अशेष के साथ ही, हम सब भी चकित रह गये। उन्होंने हमसे विनोद किया, खुद हँसे, हमको भी दिल खोलकर हँसाया।

"मुसम्मी का रस तो निकालना केशर!" कहते, स्वर से उत्साह फूटा पड़ रहा था। रस पीने के बाद, उन्होंने भैया काश्यप को तार देने की इच्छा प्रकट की। तार देने के बाद, जब हम और अशेष वापस आये तो उनकी सुधरी हुई अवस्था से, घर पर बीमार माँ की याद अनायास ही हो आयी। मुझे आये पाँचवाँ दिन हो रहा था। भैया से पूछा तो—

"जरूर-जरूर!" वे कह उठे—"यहाँ पर अशेष, मधुर, अम्मान आदि हैं ही। माँ की तबीयत ठीक न हो तो आज तुम्हें आने की

आवश्यकता भी नहीं। मगर कल आना जरूर।" कह, स्नेह से मेरी पीठ थपक दी उन्होंने। मैं घर चला आया। घर पर माँ, अपनी आँखों की पीड़ा भूल, भैया भी आशंका में ही डूब-उतरा रही थी। घर से वापस आने में, मुझे तीन-चार घंटे तो लगे ही होंगे। मगर इन तीन ही चार घंटों में, सब कुछ बदल गया था। कितना भीषण परिवर्तन हो गया था।

पेट उनका बरी तरह फूल आया था।

अब तक पीड़ा से संघर्ष करती उनकी आत्म-शक्ति की नींव दहल उठी थी।

मेरी आँखों के सामने अन्धकार छा गया। मुझे देखते ही वे चिल्ला उठे—"केशर, जल्दी डाक्टर....डाक्टर, प्लीज केशर....मैं मरा जा रहा हूँ भइया....आह!" भागा-भागा बाहर आया। सभी परेशान थे—जे० पी०, मधुर, अशेष, बाबूजी....सभी।

डाक्टर की पुकार के साथ ही 'प्यास प्यास' की रट भी अब बढ़ती जा रही थी। डाक्टर को लेकर, उनके पास आये तो वे पानी के लिये बड़ी करुण-याचना करने लगे। हम-सब की आँखें भर आयीं।

इंजेक्शन तो बदले गये पर उनकी अवस्था नहीं बदली।

"केशर, पानी पिला दे बेईमान! मरते समय भी अपने भैया को प्यासा रखना चाहता है शैतान...."

हमारी आँखें बरस उठतीं।

पानी पीने से उनका कष्ट और बढ़ जाता था।

जब उनकी प्यास असह्य होने लगती तो दो-एक चम्मच बरफ का पानी उनके मुख में डाल देता था।

"बस! लगता है, तुम मुझे मार ही डालोगे....महीनों हो गये पानी पिये....और तुम हो कि चम्मच से पानी पिला रहे हो...,अबे,

गिलास में देता क्यों नहीं मरदूद। इस अस्पताल में पानी न मिले तो जाकर दस-बीस सेर बरफ ही खरीद ला...."

"ज्यादा पानी नुकसान करेगा भैया, डाक्टर...."

"डाक्टर को मार गोली! मुझे पानी चाहिए....पानी!" वे तड़प उठते। आवेश के आधिक्य से उन्हें मूर्च्छा-सी आ जाती।

गाड़ीदार पलंग पर उन्हें वार्ड के बरामदे में ले आया गया। प्यास को भूल, वे अब 'मुझे मेरी 'चिनगारी' ले चलो' की असम्भव माँग करने लगे। मुझे, 'आवारा', मधुर, जे० पी०, अशेष जिसे भी देख लेते गरज उठते—'मुझे 'चिनगारी' ले चलो।' पीड़ा ने उन्हें उन्मादी बना दिया था। हम रात भर तक उनके पास आने से अपने को बचाये रखते थे। हम पर सदैव से शासन करने वाला उनका हृदय, अपनी अवहेलना बर्दाश्त नहीं कर पाता था।

बारह बजते-बजते उनकी हालत इतनी खराब हो गयी कि सिविल सर्जन डा० चटर्जी ने निराश होकर, थककर उनके जीवन के लिये, साफ़-साफ़ इनकार कर दिया। सभी हाहाकार कर उठे। और तभी आ गये भैया काश्यप। हमारे टूटते दिलों को राहत मिली।

मगर भैया काश्यप भी जब—"मेरा कुका....मेरा बच्चा...." कह-कर रो पड़े तो हमारी वह राहत भी टूट गयी। भैया काश्यप को अपने निकट पाकर, भैया कान्त स्थिर से हुए।

"भैया मेरे....मुझे आप अपनी गोद में उठाकर 'चिनगारी' ले चलें। यह केशरा, जेपिया; अशेषवा, मधुरवा—सब के सब बेईमान हो गये हैं। मैं अपनी 'चिनगारी' से अलग नहीं रहना चाहता....नहीं रह सकता....मैं अपनी 'चिनगारी' में ही मरूँगा भैया...." उन्होंने कसकर भैया काश्यप की कलाई पकड़ ली। पास ही खड़े डाक्टर ने इशारा किया और तब भैया काश्यप अलग हो हुए अपने प्यारे कुका

से मगर बाहर आते ही दोनों हाथों से सिर पीटते हुए बच्चों की तरह फूट-फूटकर बिलख उठे।

घर से त्रिलोक की अम्मा आदि सभी औरतें आ गयी थीं।

औरतों का वह करुण-विलाप—आह! वह आज भी स्मृति-पट पर वैसे ही छटपटा उठा है। वैसे ही रो उठने को, बिलख उठने को मन आलोड़ित हो उठा है। जीवन का वह दारुण-क्षण—क्या कभी भूल पायेगा?

उनका पलंग बरामदे में लगा दिया गया था। मैं पीछे, खम्बे से टिका सिसक रहा था। शायद भनक मिल गयी उन्हें—"कौन खड़ा है?"

स्तब्ध-सा रह गया। जड़वत् खड़ा रहा।

"कौन है?"

"मैं हूँ, भैया...."

"अच्छा तो, आप हैं....मक्कार कहीं का!" वे गरजे, दाँत पीसने की ध्वनि सुनी मैंने। बेतरह उद्वेलित हो उठा—"इधर आओ!"

उनके स्वर में खिंचा हुआ-सा पास चला आया। चेहरा आँसुओं से तर हो रहा था।

"चोर कहीं का, वहाँ छिपा खड़ा है?...." और उनके काँपते हाथ का तमाचा मेरे गाल पर जम कर बैठा। फिर दूसरा भी, तीसरा भी....वे तब तक मारते रहे, जब तक थककर मूर्च्छित न हो गये। मेरी आँखों के समक्ष अन्धकार छा गया। तमाचे की पीड़ा से नहीं, अपने भैया का वह करुण रूप देखकर, अपनी विवशता देखकर।

कुछ ही देर बाद, जब उनकी मूर्च्छा टूटी तो उन्माद नहीं था; था केवल उनका वही स्नेहिल, करुणाविगलित और हताश रूप। उन्होंने मुझे अपने पास बुलाया और तब फूट-से पड़े—"केशर, मेरे बच्चे, नाराज़ न होना अपने इस मरते हुए भैया से। तुमने मेरे

लिये बहुत कुछ किया—और मैंने तुम्हें तमाचे दिये....'' वे बिलख-बिलख कर रोने लगे। मेरे हृदय का बाँध भी टूट पड़ने को हुआ कि नर्स ने मेरा हाथ पकड़ कर बाहर, मैदान में कर दिया। एक-एक क्षण युग के समान हो रहा था।

भाभी (त्रिलोक की अम्मा) का अन्तःरुदन—देखकर वहाँ उपस्थित कौन था, जिसका कलेजा मुँह को न आ गया हो!

जे० पी० भाई तो अवगाह-से रह गये थे। न उनकी आँखों में गीलापन दीख रहा था न मुँह से आवाज़ फूट पाती थी।

भैया छटपटाते रहे, चीखते रहे, बिलखते रहे "मुझे 'चिनगारी' में ले चलो....केशर, जे० पी०, आवारा, मधुर....कोई नहीं....अशेष, भैया काश्यप, तुम दोनों भी अपने कान्त को छोड़ चले....'' सभी थे, पर किसमें इतनी हिम्मत थी जो उनके सामने पड़ने को होता। सिविल सर्जन ने जवाब दे ही दिया था। उनके अनुमानानुसार, सबेरे तक मेरे भैया मौत की गोद में सदा-सदा के लिये विलीन हो जाने वाले थे। कैसा होगा वह क़यामती सबेरा! आज, अपनी उस समय की स्थिति को पूर्णतया व्यक्त कर पाना क्या सम्भव है!

सबेरा होते न होते भैया काश्यप, अशेष और जे० पी० भाई ने, शहर के प्राय सभी प्रसिद्ध डाक्टरों-सर्जनों की भीड़, भैया के चारों ओर लगाने में लग गये। यह सरकारी हास्पिटल के विधान के सर्वथा विपरीत तो था; पर सिविल-सर्जन चटर्जी और स्टाफ-सर्जन डा० सेठ, भैया के जीवन के लिये व्यक्तिगत रूप में चिन्तित-प्रयत्नशील हो गये थे। भैया कान्त, केवल हमारे नहीं, हास्पिटल के छोटे से लेकर बड़े तक प्राय सभी कर्मचारियों, डाक्टरों, नर्सों के अपने हो चुके थे। उन सब की सहमति सहर्ष प्राप्त हो गयी। डाक्टरों की उस भीड़ ने, सिविल-सर्जन चटर्जी के प्रतिकूल, विचार प्रकट नहीं किया।

उनके जीवन की अब कोई आशा शेष न रही।

भैया काश्यप और अशेष—दोनों ही, आनेवाले उस दारुण-दृश्य को देख सकने का साहस अपने में न पाकर, अश्रुमयी आँखों और भग्न हृदय से, अपने कुका को 'आखिरी-सलाम' कर लौट गये। आवारा कभी रात इलाहाबाद में बिताता तो दिन बनारस में।

डाक्टरों की उस भीड़ ने, भैया के डूबते प्राणों में आशा का क्षणिक सञ्चार तो किया था मगर अब क्षण-क्षण उनकी अँतड़ियाँ निष्क्रिय होती जा रही थीं।

डॉ० चटर्जी ने स्नेहपूर्वक बहुत समझाया तो भैया ने हास्पिटल के प्राइवेट रूम में जाना स्वीकार कर लिया।

दो-दो सौ रुपयों के एक-एक इंजेक्शन, ब्लडप्लाजमा की शक्ति—सब कुछ बेकार रही। वे अनन्त पथ पर वेग से आगे बढ़ते चले जा रहे थे।

प्राइवेट रूम में, अब घर से भाभी (त्रिलोक की अम्मा) भी मेरे साथ भैया के निकट, रात-दिन एक करने लगीं। आवारा, मैं, भाभी और जे० पी० भाई के अतिरिक्त वे और किसी को अपने पास सह भी नहीं पाते थे। आवारा और मुझे अकेला पाते ही वे बड़े ही करुण, बिलखते स्वर में, मधुर की जीजी को एक बार देख देने की लालसा प्रकट करते मगर हम कितने विवश, कितने पंगु हो गये थे! आह, जो प्रयत्न बाद में मधुर की जीजी को ले आने के निमित्त हमने किया था, वही अगर थोड़ा और पहले होता तो मेरे भैया की वह साध, छट-पटाती ही न रह जाती! बहुत संभव था, उन्हें अपने निकट पा वे अपनी मर्मान्तक पीड़ा से और दृढ़तापूर्वक संघर्ष करते! मगर सच बात तो यह है कि उस समय की वज्रघाती स्थिति ने हमें कुंठित कर दिया था।

हमारा संसार लुटता रहा और हम खड़े-खड़े चुपचाप देखा किये।

● ●

भैया की जीवन-शक्ति का यह वैचित्र्य—

"केशर, बच्चे मेरे, अब तुम आराम कर लो ज़रा....मेरे पास तुम्हारी भाभी तो बैठी ही हैं... मरदूद, सारे के सारे, मेरे लिये अपने को भी मिटा देने को तुले हुए हैं!"

उनके उलझे बालों में उँगलियाँ घुमाते हुए मैं बोल पड़ता—"रात को जागने के लिये हम दिन भर सोते ही तो रहते हैं भैया...."

"कहो ?...." वे त्रिलोक की अम्मा से पूछते।

भाभी को 'हाँ' करना ही पड़ता था।

पसली का घाव, ऊपर से देखने में ब्लेड की एक खरोंच-सा ही प्रतीत होता था। आरम्भिक चिकित्सा करते समय डाक्टर से जो भयंकर भूल, उस खरोंच को सिल देने की हुई थी—उसके दुष्परिणाम का फल हम भुगत रहे थे। अन्दर ही अन्दर छुरे का ज़खम अँतड़ियों में सड़न भरता रहा। साँस लेने में जब असह्य पीड़ा होने लगी तो डाक्टर चटर्जी ने ऑपरेशन करने का निश्चय किया। उनके उस अन्तिम प्रयत्न ने ही भैया को दो चार दिनों और जिलाये रखा था।

डा० चतुर्वेदी को हमने रात दिन भैया के निकट रहने की व्यवस्था कर रखी थी। वे सैना में रह चुके थे सो अन्त समय तक मौत से लड़ने को अड़े रहे। अपने में कभी निराशा आने ही नहीं दी उन्होंने। अँतड़ियों की सड़न से घबराकर उन्होंने भैया को लखनऊ या पटना ले जाकर अँतड़ियों का ऑपरेशन करने का विचार प्रकट किया। सिविल-सर्जन डा० चटर्जी ने समर्थन नहीं किया; पर अपने भैया के लिये हम यह अन्तिम आशा छोड़ना नहीं चाहते थे। अन्ततः हॉस्पिटल एम्बुलेंस द्वारा उन्हें राजघाट (स्टेशन) और फिर ट्रेन द्वारा लखनऊ ले जाना तय पाया गया।

भैया पहले तो लखनऊ जाने को तैयार ही नहीं थे। मगर हमारे

बहुत समझाने पर इस शर्त पर तैयार हुए कि रास्ते में, एक ओर आवारा रहे और दूसरी ओर मैं। 'नहीं तो तुम दोनों याद रखो, मैं कूद पड़ूँगा' उन्होंने चेतावनी देते हुए कहा था।

लखनऊ जाने की सारी व्यवस्था हो गयी तो वे एक बार फिर अड़ गये—"केशर, मैं लखनऊ कभी नहीं चलूँगा....ये डाक्टर.... मेरे शरीर को चीर फाड़कर बखेर देंगे....मैं मरूँगा भी तो अपनी 'चिनगारी' की गोद में। तुम और आवारा, मुझे सहारा देकर खड़ा कर दो....सम्हाले रहना, मैं चला चलूँगा....तुम्हारी भाभी यहाँ का सारा सामान लेकर बाद में आ जायेंगी....जग्गन को मालूम होगा तो नहीं करने देगा....मैं तुम्हारा भैया हूँ, गुरु हूँ—मेरी आज्ञा मानो...."

बड़ी मुश्किल से उन्हें, रात एक बजे के करीब पुनः राजी किया गया।

साथ में, डाक्टर चतुर्वेदी चल रहे थे। एम्बुलेंस में अधिक स्थान नहीं था। हमने और आवारा ने, उनसे कैंट में मिलने का वचन दिया। एम्बुलेंस को रवना किया गया। सिविल-सार्जन डा० चटर्जी ने यह सब मरे-मरे हृदय ने स्वीकारा था। और उनका कथन, सत्य होकर ही रहा। स्टेशन पर उनकी अवस्था इतनी नाजुक हो गयी कि साथ के सभी घबरा उठे। और उस समय तो डा० चतुर्वेदी—गाड़ी पर चढ़ाने के पूर्व भैया को इन्जेक्शन देने लगे तो उनके हाथ से एका-एक सीरिंज गिरकर चूर हो गयी—भी हताश हो गये। भैया को लखनऊ ले चलने की हिम्मत ही न हुई उनकी।

हम और आवारा कैंट स्टेशन पर लखनऊ वाली ट्रेन की प्रतीक्षा ही करते रह गये। वह आयी थी और चली भी गयी। भैया को उसमें न पाकर, सोच पाना असम्भव है, हम दोनों की कैसी दशा हो गयी थी?....साथ आवारा न होता तो मेरी क्या दशा हो गयी होती?....

• •

फिर वही हास्पिटल-जीवन ! वही जिन्दगी और मौत की रस्सा-कशी !!

निराशा, पीड़ा और अन्तःअन्धकार ने, भैया को एकदम उन्मादी बना दिया था।

वे बेतरह बकने-झकने लगे। अंग्रेजी में ही बोलते थे। हिन्दी के शब्द मुश्किल से उनके मुँह से निकल पाते। अन्त के साल डेढ़ साल में उन्होंने पाश्चात्य कथा-साहित्य का गहन-अध्ययन किया था। शायद इस परिवर्तन के मूल में, वही अध्ययन रहा हो !

सबेरे जब वे पानी के लिये अत्यन्त व्याकुल होकर चीखने-चिल्लाने लगे तो मैंने धीरे कह दिया—"भैया, हास्पिटल में पानी पर कंट्रोल लग गया है...."

"कंट्रोल....तो जाकर ब्लैक से लाग....सेशर, माइ ब्रदर, प्लीज....प्लीज....वाटर....प्लीज...." और मैं बाहर भागकर बरामदे के खम्बे से अपना सिर टकराने लगा।

उसी उन्माद में, उन्होंने आनारा के हाथ में अपने दाँत गहरे तक गड़ा दिये....अनेक उनके तमाचे के शिकार हुए।

पहला दिन बीता, दूसरा भी और तीसरा....वह हम सब के लिये, क़यामत का दिन साबित हुआ था ! भैया होश में नहीं रह गये थे।

डाक्टर, नर्स आदि सिविल-सर्जन डा० चटर्जी को तीन-तीन घंटे भैया के पलंग के पास कुर्सी डाले बैठा देख, चकित रह जाते !

मेरे महाप्राण भैया के प्रति निठुर कहे जाने वाले सर्जन के हृदय में भी अपार ममत्व उमड़ आया था। सर्जन—डाक्टर निठुर ही तो होते हैं ! पर मेरे भैया न तो साधारण मरीज थे न डा० चटर्जी साधारण डाक्टर !

और फिर वह काल-रात्रि—

होलिकादाह हो रहा था। सारा शहर होलिकोत्सव की रंगीनी में अलमस्त था। श्रद्धेय उग्रजी के शब्दों में—

'उस दिन रंग नहीं था तो कुशवाहा कान्त उपन्यासकार के कफ़न पर बाकी सारी विलासी काशी, रंग-रंगीली, लाल-हरी-नीली-पीली थी। उन्माद नहीं था तो उस 'मैखार' की काया में बाकी सारा शहर उन्मत्त था। असी से वरुणा तक करुणा केवल कुशवाहा कान्त की अर्थी के निकट, बाकी चारों ओर, उल्लास, हास, विलास, रास....'

उफ़्!

उन्हीं अश्रुमयी स्मृतियों को आज सँजोने बैठा हूँ तो कलेजा मुँह को आ रहा है। ११ मार्च १९५२ की वह काल-रात्रि!

८ बजे सन्ध्या से ही बोलना बन्द हो गया था।

वे पूर्ण शान्त थे। तूफ़ान आने के पूर्व की शान्ति थी वह।

कराह की एक हलकी आवाज़ अवश्य आयी थी रात में, पर इसके बाद सब कुछ शान्त हो गया था।

घर पर माँ की हालत ठीक नहीं थी। खबर आयी थी।

तीन बजे भिनसारे, भैया के पास भाभी और आनारा को बिठाकर दस मिनट के लिये घर जाने की सोची, सबेरे सड़कों पर होली का हुड़दंग शुरू हो जाता न?

निराश, हारा, थका और लुटा हुआ-सा घर आया। माँ की दशा सचमुच ठीक नहीं थी। देख-सुनकर हास्पिटल भागने को हुआ तो देखा—सड़कों पर रंग के फव्वारे बिखर रहे थे।

रंग के वे छींटे, मुझे लहू से कम नहीं लगते थे उस समय।

छटपटाकर रह गया, पर रंग के उन फव्वारों ने, होली के उस हुड़दंग ने घर से बाहर न निकलने दिया मुझे।

आह!

उस दिन मैं क्यों घर चला आया था ? माँ की हालत कुछ और खराब हो जाती मगर मैं अपने भैया की अन्तिम हिचकी तो सुन पाता। जे० पी० भाई, भाभी, आवारा—किसी ने काश कि रोक लिया होता मुझे !—'केशर, तेरा भैया सदा-सदा के लिये बिछुड़ रहा है ! मत जा !' किसी ने भी नहीं कहा।

साढ़े तीन के लगभग हवन्नक बना, हास्पिटल पहुँचा तो भैया चले गये थे हमें छोड़कर, फिर कभी न आने के लिये।

सभी रुदन और आँसुओं में डूबे हुए थे।

मेरे पैर लड़खड़ाने को हुए कि पास ही खड़े आवारा ने झपटकर अपनी बाँहों में समेट लिया। उसके सीने से लगा मैं रो पड़ा—हम दोनों जाने कब तक रोते रह गये थे....और आज ?— स्मृति प्रवाह के इस मोड़ ने मुझे कितना रुलाया है....कौन समझे, कौन जाने !

हास्पिटल-जीवन में अपने भैया की वह निरीहता, उनकी आँखों की वह छटपटाती, घायल कामना यही तो कहा करती थी—

> 'दरो-दीवार पर हसरत की नज़र रखते हैं
> खुश रहो अहले-वतन हम तो सफ़र करते हैं'

• •

स्मृति-प्रवाह रुद्ध हो आया है। आगे, अन्धकार के सिवा और है भी क्या ?

भैया कान्त नहीं हैं, पर उनकी स्मृतियों ने सदैव मुझे आगे बढ़ते रहने की प्रेरणा से अनुप्राणित किया है। करती भी रहेंगी।

समाधि के फूल
आँसुओं की तस्वीरें

निकलता काँपता बोझिल
व्यथा से आज अन्तर्स्वर
मचलता है पुतलियों पर
विकलता का सिहर निर्झर

बड़े शौक से सुन रहा था ज़माना,
तुम्हीं सो गये दास्ताँ कहते कहते

भैया की असामयिक मृत्यु पर उनके शत्-शत् स्नेहियों के हृदय हिल उठे थे। हम जैसे उनके अपनों की क्या अवस्था हुई थी उन्हें खोकर, कह पाना कठिन है। भैया अर्जुन चौबे काश्यप, प्यारेलाल 'आवारा', अशेष, जयन्त भाई और मधुर की अश्रुमयी लेखनी से प्रसूत ये 'समाधि के फूल' आपको भैया कान्त के असाधारण व्यक्तित्व और स्नेही-हृदय के अनेक पहलुओं से परिचित करायेंगे।

भैया काश्यप !

अपने कु० का० के वियोग से विदग्ध उनके हृदय का चीत्कार इस पत्र में फूट पड़ा था। अपने प्रिय कान्त की मृत्यु के उपरान्त लिखे उनके इस मार्मिक पत्र के एक-एक शब्दों में उनके अन्तस् के ममत्व की तड़पन स्पष्ट हो आयी है।

उनके इस मर्मस्पर्शी पत्र ने हम सबको जाने कितनी बार रुलाया है।

* *

हा हन्त ! कान्त !

आह ! आज तुम नहीं हो, किन्तु मैं तुम्हें उसी प्रकार सम्बोधित कर रहा हूँ ! प्रिय, मैं कैसे मान बैठूँ कि तुम नहीं हो ? हो तुम किसी न किसी रूप में, नहीं तो मैं तुम्हें कैसे लिखता !

हाँ, आज मेरी लेखनी काँप उठी है, भावुक हो उठी है अत्यधिक। भाव-प्रवणता में उससे रक्त की बूँदें छिटकना चाहती हैं किसी को रक्तिम कर देने को, किसी को उष्ण कर शीतल कर देने को, किसी को रंग कर उभार देने को, किसी को जला कर राख कर देने को, किसी को सदा के लिये शान्त कर देने को, किसी को तुम्हारे स्नेह की याद दिलाने को, किसी को तुम्हारी तड़पन की स्मृति से व्याकुल कर देने को, किसी को तुम्हारे अन्तर्निनाद से संकुल कर देने को, किसी के हृदय में कचोट, कसक एवं हूक उत्पन्न कर देने को, किसी को तुम्हारी जीवन-सहचरी संकुलता से व्यथित कर देने को, किसी को चुल्लू भर शराब की बेगुनाह प्यालियों में डूब मरने को, किसी को बेखुदी की ताजा याद दिला कर मरणासन्न कर देने को, किसी का तप्त हृदय पर छुन्-छुन् कर जल जाने को, किसी को अकरुण प्यास से तड़प उठने को, किसी को तुम्हारी याद की प्रतिहिंसा में पागल हो जाने को, किसी को तुम्हारी करुण पुकार की अकरुण गुञ्जन में बहरा हो जाने को, किसी को दारुण उल्लास के मद में गश खा जाने को, किसी को उल्लास की बेकली में डूब जाने को, किसी को रोकर हँसा देने को, किसी को हँसा कर रो देने को, किसी को विद्रूप से हँसा कर झकझोर देने को, किसी को झकझोर कर हँसा देने को, किसी को वैकल्य के नद में हलका हो जाने को, किसी को बरबस मर जाने को, किसी को बरबस जी उठने को, किसी को अचानक बेहोशी से जाग उठने को, किसी को गोली मार कर जिला देने को, किसी को छुरा भोंक कर सजीव कर देने को....छुरा !

उफ्, मेरी लेखनी क्या चाहती है? यह क्या नहीं चाहती है? प्रिय, कु० का०, मेरे कान्त, तुम समझ रहे हो, यह क्या चाहती है! यह भावुक हो उठी है, इसके जड़ शरीर से तड़पन के आँसू के प्रस्वेद कण छूट रहे हैं!

* *

मेरे प्रिय, तुम्हारा भैया—मैं, तुम्हारे साथ के किन-किन क्षणों को अपने पुनीत किन्तु दारुण स्मृति-चिह्नों की उद्दाम भीड़ से उभारूँ?

प्रिय, याद है तुम्हें वे पुलकित क्षण जिनमें कम्पित हो हम प्रथम मिले थे और हमारे प्राण झुक उठे थे। मुझे तो याद है तुम्हारा वह मनोमुग्धकारी मुस्कान से भरा किन्तु गोपन रहस्य से गुणित असंख्य गुप्त रेखाओं से खचित एवं रक्षित मुख, जिस पर शान्ति की अशेष मुद्राएँ लहरा उठती थीं और अनुकम्पित हो उठतीं थीं भावी के गर्भ में छुपी उषा, दोपहरी, साँझ एवं रात्रि की अवदात् कल्पनाएँ। मैं अपने में मस्त झूम झूम कर तुमसे बातें कर रहा था, मानो हम वर्षों से एक दूसरे के हों।

याद हैं वे छोटे-छोटे मधुर सुकुमार दिन, जिनकी प्रतनु गोद में 'चिनगारी' के पन्ने अरुण राग से अनुकम्पित हो, उषा की सुनहरी किरणों में उद्भासित हो दुपहरी में उष्म हो चले!

याद हैं तुम्हारे वे खेलते सपने जो अलसाये-से तुम्हारे युगल नयन-कोटरों में ढुलमुल चमक उठते थे!

याद हैं वे शान्त, गम्भीर जीवन की लालसायें जो हठात् अशान्त हो उठती थीं कुछ सोचकर, कुछ ध्यान कर तड़पन में व्यस्त!

याद हैं वे योजनाएँ जो श्री प्यारेलाल 'आवारा' की लाल ज्योत्स्ना में सिहरी थीं और जिन्हें तुमने मेरे जलते हृदय में डालकर

शान्ति की साँस ली थी ! श्री प्यारेलाल 'आवारा' चमत्कृत हो उठे और मैं विह्वल !

याद हैं श्री रामाशीष सिंह 'प्रभञ्जन' की जगमगाती प्रकम्पित जीवन-ऊष्मा की वे बौछारें जिनसे वे क्रमशः 'अशेष' हो उठे ! श्री-रामाशीष सिंह 'अशेष' की भावुक एवं सतीक्ष्ण नगन ज्योति तुम्हें प्राप्त थी। फिर तो 'कान्त' एवं 'काश्यप' के मध्य 'आवारा' एवं अशेष की चक्र-वृत्तियाँ घूमती फिरती रहीं और चक्र की व्यास-रूपक कितनी तीलियाँ जुटती रहीं !

याद हैं वे घड़ियाँ जिनमें श्री चन्द्रशेखर पाण्डेय भी 'चिनगारी' के अभिन्न हो उठे और उनकी मार्मिक शैली की ग्राहकता उनके साहाय्य के साथ हमारे लिए एक देन होकर रह गयी !

याद हैं वे क्षण जिनमें व्यस्त हो हम रात-दिन की सुधि बिसार-कर मिर्जापुर की चढ़ती जवानी की तड़पन में 'मड़ुआरिया' की सूनी गली, सलोहान में घर से कार्यालय और कार्यालय से घर एक करते थे ! मेरी विवशता पृथक् खड़ी थी 'चिनगारी' से सम्पृक्त होने को !

याद हैं वे घुड़कियाँ जिनमें तुम्हारे प्रिय अनुज श्री जगन्नाथप्रसाद सिंह तुम्हारे अनुपम की स्नेह छाया में पलते डाक्टर रो तुम्हारे अनु-गामी बन बैठे !

याद हैं वे मधुर क्षण जिनमें बिधकर श्री ब्रह्मदेव 'मधुर' हो उठे, अपनी मधुरिमा की सचित्र छाप 'चिनगारी' के पृष्ठों पर छोड़ने लगे, तुम्हारी परम्परा में गुँथ उठे और अधकच्ची अवस्था में ही चित्रकार अपितु कथाकार के उन्मीलित नयन खोलने लगे !

याद हैं वे स्नेह की पुलकी प्रिय घड़ियाँ जिनमें 'केशर' अपनी गरिमा से तुम्हारे इतने निकट हो गये और चिनगारी परिवार की माला के एक अक्षुण्ण सजीव पुष्प हो झूम उठे, अपनी ग्राहक शैली से प्रेरित कथा-प्रवाह की लहरियाँ उभारते !

याद हैं वे दिन जिनकी सहस्र रश्मियों में अनुकम्पित हो तुमने 'चिनगारी' के पाठकों में एक मोहक लालसा भर दी थी और हिला दिया था उन्हें प्रति मास अपने सजल, सुपवित, अदग्धिम, करुण, अकरुण, हर्ष विषाद, रुदन-विमोह एवं उष्णता-शीतता से ओत-प्रोत भाव शब्दों से !

याद हैं वे अथक प्रयत्न जिनके फलस्वरूप तुम्हारी 'चिनगारी' फूल फल उठी और उसके आस-पास एक लम्बा परिवार सजीव हो उठा ।

याद हैं वे मधुर पल जिनमें पलकर 'नागिन' एवं 'बिजली' फूत्कार कर कौंध पड़ीं और पाठकों को डँसने एवं उद्दीप्त करने लगीं !

* *

आह ! आज तुम्हारा चिनगारी-परिवार सन्तप्त है और तुम विलग हो अमरता की ज्योति में आत्मसात् हो गए । देखो—'अशेष', 'केशर', मधुर, 'आवारा', 'जगन', तथा अन्य चिनगारी प्रकाशन एवं प्रेस के भूत अपने नयनों के जल में तुम्हारी मूर्ति को धो रहे हैं । और तुम्हारे बड़े भैया काश्यप....उफ् !

* *

प्रिय, तुमने हिन्दी-साहित्य में कथाओं के अनमोल रत्न भरे हैं । तुमने लिखने की एक शैली दी है जिसे मैं आज 'कान्त-शैली' की संज्ञा दे रहा हूँ ।

तुमने अपने सभी शब्दों को जागरूक कर दिया है; आज तुम्हारे पाठकों की संख्या अन्य लेखकों से कई गुनी बड़ी है, इसे कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता । तुम ऐसे थे, तुम्हारे उपन्यास ऐसे थे, तुम्हारी कहानियाँ ऐसी थीं जिन्हें लोग समय निकाल कर अपने से मजबूर होकर एवं छिप-छिपकर पढ़ते थे ।

* *

कुशवाहा 'कान्त'—जीवन और साहित्य

तुम एक ऐसे लेखक थे जिसे चाहते सभी थे। बाह्यरूप से निन्दक अन्तःरूप से तुम्हारे अनुमोदक एवं समर्थक थे।

* *

तुमने सच्चे भावों की पोल खोल दी थी। ऐसे थे तुम 'प्रकृति-वादी'। तुम्हारा 'प्रकृतिवाद' 'वास्तविकतावाद' था और था 'स्वच्छन्दतावाद' का प्रबल विरोधी; क्योंकि तुम्हारे 'चरित्र' पूर्णरूपेण सामाजिक थे और थे जीवन के व्यामोह के टुकड़े।

तुमने आधुनिक कथा साहित्य को एक नया रुख दिया है। ज्योंही तुम्हारे उदायन का अवसर आया तुम चले गये। किन्तु तुमने जो कुछ दिया है वह अथाह है।

* *

तुमने हँसा-हँसाकर रुलाया है और हँसाया है रुला रुलाकर। तुम्हारे कथा-साहित्य का यह विमोहक विरोधाभास हिन्दी की अपनी 'चीज़' है। बोकैसियो, बालजाक की परिणति मोपासाँ से उतर कर तुममें समा गयी और तुमने डिकेंस की मर्मभेदी शैली के अनुरूप जीवन के सुख-दुख के सुर निनाद को स्वर दिया। तुम्हारे साहित्य में सामाजिक व्यक्ति को साँस मिली तथा बन्धन-व्यामोह की आदर्श-वादिता को ठेस मिली और मिली व्यर्थ के प्रपञ्चों को आधुनिक मनोवैज्ञानिक छाप।

* *

तुमने जीवन के रस को भावुकता की कामिनी की सरस फुलवारी की कलियों की प्रस्फुटन एवं उसकी गंध-मादकता में देखा है, जहाँ साहित्य-कामिनी नाचती रहती है, उससे केवल पाँव थक कर चूर हो जाते हैं, किन्तु वह रुकती नहीं, जहाँ वह अपनी अलसित मस्ती के

वैकल्य में बिक जाती है, जहाँ वह वेदना की साकार प्रतिमा बन जाती है, जहाँ वह आदर्श की पुतली बनी ऐंठी रह जाती है, जहाँ वह अनुरञ्जिता, प्रकम्पिता एवं सलज सुकुमारी बनी सदा के लिए समाज की माँग में सिन्दूर डालकर स्वयं विधुरा हो जाती है! उफ्, कितना सत्य था तुम्हारा सपना, तुम्हारा जीवन था, साहित्य था, समर्पित किसी को, जो आज तुम्हें सम्पूर्णरूप में पा स्वयं समर्पित जीवन के आक्रोड में है। कैसी है यह जीवन की विडम्बना एवं उसकी निर्लिप्त छाप।

* *

तुमने लिखा और खूब लिखा। तुमने लिखा एक लम्बा दास्तान लिख सारा और स्वयं दास्तान बन बैठे।

* *

जो तुम बाहर थे वह भीतर नहीं और जो भीतर थे वह बाहर नहीं। तुम थे अन्तर्मुख और तुम्हारी व्यक्तिता अन्तर्मुखी थी।

तुम कितने शान्त थे। तुम्हारे पाठक तुमसे मिलकर तुम्हें पहचान नहीं सकते थे, क्योंकि उनके मानस तन्तुओं में तुम एक विचित्र जीव थे जिसकी प्रतिमूर्ति प्रतिक्षण उन्हें झंकृत करती रहती थी। कौन कह सकता था कि कुशवाहा कान्त ही 'चमगादड़' हैं। क्योंकि श्री 'चमगादड़' अपनी अन्य दुनिया में जीवन का व्यामोह लिए हँस भी सकते थे! किन्तु थे तुम चमगादड़। आज तुम सदा के लिए—उफ्! आज चमगादड़ सदा के लिए दिव्य आभा में मिल गया। न वह रहा और न रही रात्रि के गहन अन्धकार में चीखती उसकी कातर किन्तु सबल पुकारें।

* *

तुम्हारे 'नीलम', 'लाल रेखा', 'पारस', 'मदभरे नयना' आदि

हिन्दी कथा-साहित्य को अमर देन है। तुम्हारी भावुक शैली अर्थात् 'कान्त-शैली' में पिरोयी हुई कोमल विमुग्धकारी कान्त-शब्दावली कितने उभरते हृदयालु व्यक्तियों के गलहार है।

तुमने अपने कथा-साहित्य में प्राग्वैदिककालीन जीवन, बौद्धकालीन आदि ऐतिहासिक पीठिका, मध्ययुगीन एवं वर्तमानयुगीन सामाजिक राजकीय राजनीतिक एवं नैतिक प्रेरणाओं का स्थान दिया है। तुमने अपने अल्पजीवन में कोड़ियों पुस्तकों का प्रणयन कर साहित्यिक-वैचित्र्य उपस्थित किया है।

* *

प्रिय कान्त, मैं तुम्हें 'कु० का०' कहता था। तुमने कहा था 'भैया, हिन्दी के लेखक एवं आलोचक मुझसे नाक-भौं सिकोड़ते हैं, आप एक पुस्तक के रूप में मेरी कटु आलोचना कीजिए न। मैं निहाल हो जाऊँगा अपने दोषों को जानकर।' आह! वह पुस्तक अभी छप न सकी और तुम बिना पढ़े उसे चले गए। मेरी आत्मा कराह उठी है तुम्हारी उस पुकार पर।

* *

तुम्हारी सभी आशायें हरी हुईं और एक भी पूरी नहीं हुई। क्यों? अपनी पूर्ण आशाओं को लेकर तुम ज्योंही चमत्कृत होने वाले थे त्योंही तुम बेबस चल पड़े। आशाओं ने तुम्हें छला, किन्तु तुमने उन्हें नहीं छला और न धोखा दिया। उफ्, जीवन-रक्त से सराबोर तुम्हारी आशायें इतनी मृदु थीं कि वे कटु भी हो गयीं। आह! कान्त, आशाओं की सजल चादर में तुमने अपने को समेट लिया। और वे अनजान रश्मियों-सी संध्या की लालिमा में विलीन होती रात्रि के गहन तामस्रा में समा गयीं। हम देखते रह गये तुम्हें तड़पते।

* *

कान्त, तुम्हारी कान्ति तुम्हारी अपनी थी। जब मैं उस दिन तुम्हारे एक स्नेही श्री विष्णुदेव नारायण सिंह के साथ रात्रि के २॥ बजे किंगएडवर्ड हास्पिटल में तुमसे मिला तो तुम 'कान्त' ही थे। तुम विकल थे भौतिक जड़ आघात से। किन्तु तुम्हारी चेतन क्रियाएँ तब भी सबल थीं। किस प्रकार जड़ एवं चेतन शिकञ्जों में कसे तुम हठ कर रहे थे, अपनी सँजोयी क्यारी में लोट-पोट हो जाने के लिए—'मैं अपने प्रेस में ही सो जाना चाहता हूँ....भैया, ले चलिए मुझे वहीं....आप आ गये हैं परम सन्तोष है।' उफ्, अभिनव कलाकार श्री विष्णुदेव नारायण सिंह ने देखा अपने आगे जीवन-मरण के झूले पर झूलता हुआ एक सजीव अभिनय। प्रिय, तुम्हारे मर्मभेदी शब्द विद्युत की भाँति हास्पिटल में कौंध उठते थे। हम लाचार थे....तुम्हारे बड़े भैया काश्यप लाचार थे। तुम्हारे सभी अभिन्न तुम्हारी इस छोटी-सी लालसा को पूर्ण करने में लाचार थे। तुमने कहा—"डाक्टर, देखिये मेरी आँखें, अभी मुझमें है बलवती प्राण-प्रेरणा एवं इच्छा-शक्ति....मैं अपने सँजोए प्रेस में जाना चाहता हूँ, आज्ञा दे दीजिए....यदि आप जीतें तो मैं ईनाम दूँगा....नहीं तो आपको ईनाम देना होगा...." यह सुनकर डाक्टर हँसकर न हँस सके और न मैं अपने को सँभाल सका। लगा आड़ में खड़ा होकर रोने। 'अशेष', 'केशर', 'मधुर', जगगन और मैं किस प्रकार तुमसे छिप-छिपकर रोते थे....उफ्, डाक्टरों ने जवाब दे दिया और हम लोग डाक्टर पर डाक्टर बुलाकर अपने को तसल्ली दे रहे थे....प्रिय, तुम चले गये और डाक्टर को इनाम न मिला....ऐसी थी तुम्हारी सबल आशा। तुम्हारी विवशता पर हम रो रहे थे। हम लोगों के समक्ष था जड़ से लोहा लेने वाला एक सबल चेतन। हम देख रहे थे जड़ और चेतन में एक तुमुल संघर्ष। हम जड़ थे, विवश थे चेतन होकर और तुम थे चेतन विवश एवं जड़ होकर।

* *

तुमने अपनी आशा की तलवार से अपनी बलि दे दी, हम यही कहेंगे। तुमने जीवन को सँवारा सँजोया नहीं—हम खोज उठते हैं। तुमने अपने को बेच दिया, खरीदा नहीं—हम सोच उठते हैं। तुमने अपने आस-पास मृत्यु की विकराल लपलपाती जीभ नहीं देखी, देखा केवल चलता एवं जागता सपना जिसमें तुम थे और कोई विकल आशा की सजीव प्रतिमा—हम स्वप्न देख उठते हैं। तुमने देखी चोट, तुम नहा उठे अपनी रक्त-बूँदों से। किन्तु हमने देखी क्षत-देह। तुम निरख उठे अपने बलिदान में, अपने प्रेमोत्सर्ग में, किन्तु हमने देखा नृशंस दुर्दैव का मर्मभेदी आघात। आह ! तुम चेतन थे सँभल गए किन्तु तुम्हारा शरीर जड़ था सँभल न सका.... और....और....हम रो उठे....तुम अपनी ही कहानी, अपने ही उपन्यास हो उठे! तुम्हारे सारे उपन्यास एक ओर तुम्हारा जीवन-उपन्यास एक ओर।

प्रिय कान्त, आज तुम्हारा चिनगारी-परिवार अनाथ हो गया है। 'चिनगारी' 'नागिन' 'बिजली' विधुरा हो गयी हैं। अब तो वे तुम्हारी याद में ही फूलेंगी-फलेंगी। ये तुम्हारी उज्ज्वल कीर्तियाँ हैं। मैं तुम्हारी आत्मा से यही अनुरोध करता हूँ कि तुम अपनी 'सृष्टि' पर दैवि-शक्ति की छाया रखोगे।

मैं हूँ,

तुम्हारी चिर याद में

तुम्हारा भैया—

अर्जुन चौबे काश्यप

• •

और यह प्यारेलाल 'आवारा' !

हम सब भी वही है, जिसने सबसे पहले भैया कान्त का नैकट्य पाया था। अपनी मौत के अस्फुट संवाद पर ही फूट-फूटकर रो उठनेवाले कान्तजी की याद में, उसका हृदय भी रोया था, उसकी क़लम अश्रुमयी हो उठी थी। दूर होकर भी वह भैया कान्त के हृदय के समीप था। जीवन और मृत्यु की रस्सा-कशी के बीच वह सामीप्य कितने करुण रूप में साकार हो आया था!

* *

और चिराग़ बुझ गया। वह चिराग़ जिसकी रोशनी लोगों को राह दिखाती थी, अँधेरे की पीड़ा में डूबे हुए लोगों को निकाल कर मंज़िल तक पहुँचाती थी।

वह चिराग़ क्रोध से चिग्घाड़ते हुए सागर के बीच खड़ा 'प्रकाश-स्तम्भ' की तरह था, जो लरजती-गरजती लहरों के थपेड़े खाता हुआ भी जहाजों को ख़तरे से बचाकर मंजिल की ओर पहुँचाता था।

चिराग़ बुझ गया और दुनिया अँधेरे में डूब गई। दुनिया के लोग अँधेरे में अपनी-अपनी राह से भटक गए। भटक कर चीख़ने लगे, बिलखने लगे कि राह मिले, राह से मंज़िल मिले। पर अँधेरे में किसी को राह मिली है? कोई मंज़िल तक पहुँच पाया है?

चिराग़ बुझ गया और हम उसे चाहकर भी बुझने से न बचा सके। हमारी सारी कोशिशें, सारी ताक़तें, सारी तरकीबें बेकार हुईं। हम मौत की आँधी को अपने चिराग़ के पास—उस चिराग़ के पास जो अपने से भी अधिक प्यारा था—आने से नहीं रोक सके। और वह बेदर्द हमारी बरसती आँखों के सामने ही हमारी रोशनी को लूट कर चली गई। हम कुछ कर नहीं सके। हमारा चिराग़ बुझ गया और हम खड़े-खड़े देखते रहे।

रोशनी लुट गई। चिराग़ बुझ गया और हम अँधेरे में डूब गए हमेशा-हमेशा के लिए। अब चिराग़ नहीं जलेगा। रोशनी नहीं होगी, राहें नहीं मिलेंगी। मंज़िल का पता नहीं चलेगा।

पहली मार्च। शनिवार। 'रूपसी' का 'गुलाल अंक' तैयार हो चला था और उसके भेजने की तैयारियों में व्यस्त था। मौत की वादी में से निकल 'रूपसी' खुशनुमा जिन्दगी की गोद में लौट आई थी। मैं उस पर अब मौत का हलका-सा भी साया नहीं पड़ने देना चाहता था और इसके लिए मैंने अपनी सारी ताक़त लगा दी थी।

कई दिनों की लगातार मिहनत ने बदन के रग-रग को थका कर चूरकर डाला था। शाम होते-होते घूमने निकल गया। पार्कों में घूमा, रेस्ट्राँ में चाय पी, फिर भी जब थकान नहीं मिटी तो सिनेमा में घुस गया।

सिनेमा देखकर जब घर लौटा तो रात के बारह बज चुके थे। उम्मीद थी कि घर में सब सो गये होंगे जगाना पड़ेगा। पर कोई सोया न था। सब जाग रहे थे, दादी, श्यामलाल, प्रभा (मेरी पत्नी)। मुझे आश्चर्य हुआ। घर में कह रक्खा था कि रात के दस बजे के बाद मेरी प्रतीक्षा कोई न करे, आने पर मैं जगा लिया करूँगा।

लालटेन के प्रकाश में जब मैंने उनका चेहरा देखा तो दिल किसी आशंका से काँप उठा। सब उदास थे, ग़मगीन थे। उनकी ओर ग़ौर से देखा। देखकर ही जानने की कोशिश की कि बात क्या है? सबके सब इतने ग़मगीन क्यों हैं? कोशिश की, पर जान न पाया।

और तब मैंने अपनी पत्नी से पूछा—"क्या बात है? तुम सबको हो क्या गया है?"

कोई कुछ बोला नहीं। प्रभा ने चुपचाप एक टेलीग्राम मेरी ओर बढ़ा दिया।

टेलीग्राम!

मेरा मन जोरों से धड़कने लगा। ऐसा लगा जैसे यह टेलीग्राम ज़िन्दगी को छीन लेनेवाली ख़बर लेकर आया है। उसकी ओर देखने में भी मुझे डर लगने लगा। जाने कौन-सी खबर है? किसकी खबर है? पढ़ना चाहकर भी नहीं पढ़ पा रहा था।

और जब पढ़ नहीं पाया तो प्रभा की ओर प्रश्नसूचक दृष्टि से देखा। दो-तीन क्षणों बाद उसके होंठ हिले—"तुम्हारे 'कान्त' को किसी ने छुरा मार दिया है।"

मेरे 'कान्त' को किसी ने छुरा मार दिया है! प्रभा की वह बात तपे हुए शलाखों की तरह मेरे जिगर में उतर गई और दर्द से मेरी आँखें भर-भर आईं।

मेरी भींगी-भींगी आँखों में अविश्वास की गहरी छाया देखकर प्रभा ने कहा—"देख लीजिए। टेलीग्राम में यही लिखा है।"

जी को कड़ा करके टेलीग्राम को देखा। हिन्दी में लिखा था—

कान्त छूरे से घायल। हालत चिन्ताजनक। तुरन्त आओ।

—'मधुर'

'मधुर' के साथ-साथ कई चेहरे मेरी आँखों के आगे कौंध गये और मेरे लहू का हर क़तरा क्रोध और प्रतिहिंसा से उबाल खा उठा। हाथों की उँगलियाँ मरोड़ खाने लगीं जैसे वे देखते ही देखते 'कान्त' को घायल करनेवालों के कलेजे में कई छुरे एक साथ उतार देना चाहती हों।

घड़ी की ओर देखकर प्रभा ने कहा—"इस समय साढ़े बारह बजे हैं। कोई ट्रेन मिल सकेगी?"

मैंने चौंककर अपनी पत्नी की ओर देखा और कहा—"तीन घण्टे बाद ट्रेन मिलेगी। तुम जाकर बच्चों के पास सो जाओ, नहीं तो वे भी जाग उठेंगे। श्यामलाल को मैं सब काम समझाये देता हूँ; क्योंकि हो सकता है लौटने में मुझे हफ्तों लग जायँ।"

प्रभा कुछ बोली नहीं। बैठी रही।

मैंने उसकी ओर क्षण भर के लिए देखा, फिर श्यामलाल को सब काम समझाकर उठ खड़ा हुआ।

"देखिए, 'कान्त' जी की जैसी भी हालत हो, पहुँचते ही खबर दीजिएगा"— प्रभा ने कहा।

सिर हिलाकर सीढ़ियों से उतरकर सड़क पर आ गया। और काँपते कदमों से स्टेशन की ओर बढ़ा।

प्लेटफार्म पर ट्रेन लगी थी। चुपचाप एक डिब्बे में बैठ गया। अँधेरा होने के कारण आसपास के लोग नहीं देख पाये कि मेरी भीगी भीगी आँखें बरस रही हैं। पलकों के बीच हास्पिटल की खाट की चारपाई पर पड़ी 'कान्त' की कराहती आकृति काँप उठी। उस आकृति को मैं नहीं देख सका इसलिए अपनी आँखें बन्द कर लीं और पड़ा रहा, लुटा लुटा खोया खोया।

थोड़ी देर बाद डिब्बे का बल्ब जल उठा और ट्रेन रेंग चली।

कान्त!

मेरे अभिन्न! दस-बारह साल की मैत्री में हम दोनों कई बार एक दूसरे से लड़े झगड़े, अलग हुए। पर हमारा झगड़ा पानी के बुल-बुले की तरह क्षणिक था। हम लड़ते-झगड़ते, फिर मिल जाते, पिछली सारी बातों को भूलकर।

मेरा मन उड़कर 'कान्त' के पास चला गया, जिनकी आँखें मेरी प्रतीक्षा में दरवाजे पर लगी होंगी।

ट्रेन से उतरते ही सीधे चिनगारी प्रेस पहुँचा और वहाँ से हास्पि-टल। वार्ड के दरवाजे पर पहुँचते ही मेरी नजर 'कान्त' जी पर पड़ी। मेरा मन उनकी दशा देखकर रो उठा, पर वे मुझे देखते ही मुस्कुराये। मुस्कुराकर अपनी बगल में बैठने का इशारा किया।

मैं बैठ गया पर मुझसे कुछ बोला नहीं गया। बस अनिमेष नयनों से उन्हें देखता रहा।

थोड़ी देर बाद जब मेरे सिवा उनके पास कोई नहीं रहा तब उन्होंने सिर और सीने की चोटें दिखायीं। उन चोटों को देखकर मेरी आँखें रोकते-रोकते भर आयीं।

मेरे हाथ को अपने हाथों में लेकर वे बोले—"पागल, घबड़ाता क्यों है? देखते ही देखते ठीक हो जाऊँगा...."

मेरे मन को कुछ धीरज हुआ।

रात भर वहीं रहा। कोई खास बात नहीं हुई। पर दूसरे दिन उनका पेट फूलने लगा। और पेट के फूलने के साथ बेचैनी भी बढ़ने लगी।

तीसरे दिन जब तबियत काफी ठीक थी; उन्होंने पूछा—"रूपसी निकली या नहीं?"

"तैयार हो चली है...." मैंने कहा।

"तो एकाध दिन के लिए चले जाओ!"

"चला जाऊँगा!"

"ऐसे काम नहीं चलता। उसे निकाल कर फिर लौट आना...."

और मैं उनकी बात काट नहीं सका। इलाहाबाद लौट आया। सोच कर कि एक दिन में 'रूपसी' डिस्पैच कराने के बाद लौट आऊँगा, पर पूरी पत्रिका तीन दिन में भी डिस्पैच नहीं हो सकी।

तीसरे दिन सुबह मेरी तबियत जाने क्यों बहुत घबड़ाने लगी। किसी काम में जी नहीं लग रहा था। कभी चारपाई पर लेटता, कभी कुर्सी पर बैठता, कभी छत पर टहलता। पर घबड़ाहट जरा भी कम न हुई। ऐसा लग रहा था जैसे 'कान्त' जी मुझे पुकार रहे हैं।

और तब मैं उस दिन रुक नहीं सका। सब काम छोड़कर काशी भाग आया।

मेरे मन की घबड़ाहट अकारण नहीं थी। 'कान्त' जी की हालत बिगड़ चुकी थी। सिविलसर्जन तथा बनारस के सभी डाक्टरों ने जवाब दे दिया था। मैं समझ नहीं पाया कि इतना भीषण परिवर्तन हो कैसे गया?....किसी से कुछ पूछने का साहस भी नहीं हुआ।

उन्हें लखनऊ ले जाने की तैयारी हो रही थी। उनके कमरे के बाहर 'केशर' मिला। चेहरे पर मुर्दनी छायी थी उसके। मुझे देखते ही रो पड़ा। रोते-रोते बोला "भैया तुम्हें याद कर रहे थे!"

मन ही मन मैं भी रो उठा। और अपने को कोसने लगा कि क्यों उन्हें छोड़कर चला गया था। 'रूपसी' न निकलती न सही। मुझे नहीं जाना चाहिए था।

दबे पाँव मैं उनकी चारपाई के पास गया। भाभी पास ही बैठी थीं। मुझे देखते ही उनकी भरी भरी आँखें ऊपर उठीं। उन आँखों में छिपी पीड़ा को मैं नहीं देख सका।

अपने पास किसी को आया जानकर 'कान्त' जी ने आँखें खोलीं और मुझे देखते ही बोल उठे—"आ गए तुम! अब मुझे छोड़कर कहीं मत जाना, सब मुझे मार डालेंगे!"

उनके माथे को सहलाते हुए मैंने कहा—"अब मैं कहीं नहीं जाऊँगा, घबड़ाओ मत!"

सन्तोष की साँस लेकर उन्होंने कहा—"और देखो, लोग मुझे जाने कहाँ ले जाना चाहते हैं। मैं कहीं नहीं जाऊँगा। मुझे बस 'चिनगारी' में ले चलो।"

"हम लखनऊ चल रहे हैं। वहाँ आप जल्दी अच्छे हो जायेंगे!" मैंने कहा।

"नहीं-नहीं, मैं कहीं नहीं जाऊँगा। मुझे 'चिनगारी' में ले चलो!"—कुछ आवेश में आकर 'कान्त' जी ने कहा।

"देखिए जिद नहीं करते। यहाँ जल्दी फ़ायदा नहीं होगा और

वहाँ दो दिन में अच्छे हो जायेंगे !"—मैंने कहा—"और फिर आप इतना घबड़ाते क्यों हैं ? मैं तो साथ रहूँगा ही !"

"तुम रहोगे न मेरे साथ ?"

"हाँ !"

"तब मैं चलूँगा। एक तरफ तुम रहना और दूसरी तरफ 'केशर'। नहीं तो मैं नहीं जाऊँगा...." 'कान्त' जी ने दृढ़ स्वर में कहा।

"निश्चिन्त रहें। मेरे और 'केशर' के सिवा आपके पास कोई और नहीं रहेगा...." मैंने उन्हें आश्वासन दिया।

आश्वस्त होकर वे ज़िद करने लगे कि जल्दी ले चलो। मोटर लाओ। मुझे उसमें लिटाओ। तुम दोनों मेरे पास बैठो।

मैं उन्हें धैर्य बँधाता रहा कि मोटर आ रही है, इन्तजाम हो रहा है।

मैं सिगरेट के लिए उठकर बाहर आया ही था कि वे फिर चिल्ला उठे—"प्यारे ! कहाँ मर गये ? मेरे पास आओ....मैट्रन ! उसे मेरे पास बुला दो !"—मैंने मैट्रन की ओर देखा। वे बाहर आ रही थीं। आगे बढ़कर मैं अन्दर जाने ही वाला था कि वे स्वयं ही बोल उठीं—"प्यारे लाल किसका नाम है ?"

"मेरा !" मैंने कहा।

"चलिए, आप उनके पास रहिए, नहीं तो वे चिल्लाते ही रहेंगे और तब उनकी तकलीफ़ बढ़ जायेगी।"

मैं कुछ बोला नहीं, चुपचाप 'कान्त' जी के पास चला आया। मेरी ओर देखा उन्होंने और देखकर चुप हो गये।

ज़िन्दगी और मौत के बीच झूलते हुए अपने 'कान्त' की वह दारुण व्यथा देखी नहीं जाती थी। ज़िन्दगी और मौत के कशमकश में कभी उनकी जीत होती, कभी हार। जब जीत होती तो डाक्टरों को

कुछ आशा होती, और हमारे पपड़ी पड़े होंठ जरा से मुस्कुरा उठते और जब हार होती तो डाक्टरों का सिर झुक जाता और हम बिलख उठते।

हम लोग उन्हें लखनऊ मेडिकल कॉलेज ले जा रहे थे। शायद वहाँ कुछ हो जाय। शायद वहाँ जिन्दगी और मौत के कशमकश से 'कान्त' जी बाहर निकल आयें। उन्हें स्टेशन तक लेकर जाया भी गया, पर ट्रेन में जगह न मिलने तथा रास्ते में हालत कुछ और बिगड़ जाने की वजह से उन्हें फिर हॉस्पिटल लौटा लाया गया।

फिर वही हॉस्पिटल। हॉस्पिटल का वही रूम। वही माँ, वही 'फेदर', वही भाभी, वही सब लोग। सब लोग वैसे ही थे, सब कुछ वैसा ही था, पर मेरा 'कान्त'—हिन्दी का वह महान कलाकार, जिसने कभी भी किसी के आगे अपना सिर नहीं झुकाया, नामधारी साहित्यिकों ने उन्हें दबाने की, कुचलने की लाख कोशिशें कीं, पर कभी भी सफल नहीं हुए—वही मेरा अपना 'कान्त' लोहे की चारपाई पर लाचार, निरीह सा पड़ा रहता। जिसने कभी किसी के आगे हाथ नहीं फैलाया, वही मामूली डाक्टर और नर्सों से हाथ जोड़कर पानी का कुछ बूँदें माँगता! देख-देखकर, सुन-सुनकर मर जाने की इच्छा होती, पर मरना भी तो अपने हाथ नहीं।

एक दिन। रात के लगभग दो बजे।

मैं उनकी चारपाई के पीछे बैठा था। सहसा वे चारपाई पर उठकर बैठ गए। मैंने लपक कर उन्हें सँभाला। फिर से लिटाकर धीरे से कहा—"उठिए मत डाक्टर ने मना किया है!"

धीरे से वे बोले—"जरा सा पानी पिला दो।"

मैंने दो चम्मच पानी पिला दिया।

"और दो।"

"थोड़ी देर बाद फिर पी लेना।"—मेरा इतना कहना था कि

उन्होंने मेरे बायें हाथ को जोर से पकड़ कर अपनी पूरी ताकत से दाँतों के नीचे दबा लिया। दर्द के कारण मेरी आँखों में आँसू आ गये, पर कुछ बोला नहीं। चुपचाप खड़ा रहा। जब उनके दाँतों में दर्द होने लगा तब उन्होंने स्वयं ही मेरा हाथ छोड़ दिया।

उनके सामने से हटकर बिजली की रोशनी में मैंने देखा कि मेरी कलाई में उनके पूरे दाँत धँस गये हैं और खून छलछला आया है।

सुबह नर्स चन्द्रा जब मेरे हाथ पर पट्टी बाँधने लगी, तब मैंने उससे पूछा "तुम्हारी क्या राय है? 'कान्त' जी ठीक हो सकेंगे या नहीं?"

उसने मेरी ओर देखा और भरे गले से कहा—"कोई उम्मीद नहीं है, भाई! जबतक साँस चल रही है, तभी तक!"

चन्द्रा की बात ठीक थी। 'कान्त' जी मौत से लड़ते लड़ते थक गये थे। हार के निशान उनके चेहरे पर गहरे होते जा रहे थे। आँखों की जिन्दगी साथ छोड़ती जा रही थी।

चिराग का तेल स्याह हो चुका था। केवल बत्ती जल रही थी। पर बिना तेल के बत्ती कब तक जल सकती थी? कब बुझ जायेगी, कोई ठीक नहीं।

बारह मार्च। होली का दिन। चारों ओर रंगभरी मस्ती। दुनिया हँस रही थी, जश्न मना रही थी। पर हम हास्पिटल में दुनिया की रंगीनियों से दूर, अपने उस साथी के पास थे जो हमसे दूर जाने की तैयारी कर रहा था।

कई रात के जागरण की वजह से नींद आ रही थी। सोचा, हाथ-मुँह धो लूँ ताकि नींद से पीछा छूट जाय। मेस से मुँह-हाथ धोकर लौट आया। अन्दर 'कान्त' जी के पास नान्हक ('कान्त'जी के साले) तथा एक आदमी और थे।

मैं बाहर ही चारपाई पर लेट गया।

लगभग सवा तीन बजे नान्हक रोता हुआ अन्दर से निकला और मुझे झकझोर कर कहा—"भैया, चलकर देखो तो 'कान्त' जी को क्या हो गया है। कुछ बोल नहीं रहे हैं।"

मैं हौले से उठ खड़ा हुआ। सुबह मार्फिया का इन्जेक्शन दिया गया था। सोचा, शायद उसी के कारण बेहोशी में पड़े हों। अन्दर गया। उनके पास पहुँचते ही जी धक् से हो गया। 'कान्त' जी निस्पन्द पड़े थे। आँखें बन्द। चेहरे पर मुर्दनी।

चारपाई पर बैठकर उनके सिर को अपनी गोद में लेकर धीरे से पुकारा—"कान्त...."

पर मेरी आवाज़ उनके कानों के परदों से टकरा कर वापस आ गई।

दिल जोरों से धड़कने लगा। नाड़ी देखी, वह छूट चुकी थी। नाक के पास हाथ ले ही गया था कि उन्होंने आखिरी हिचकी ली।

चिराग़ बुझ गया था। मैं दहाड़ मार कर रो उठा।

नान्हक रोता हुआ डाक्टर और नर्स को बुला लाया।

उन लोगों ने देखा और देखकर सिर झुका लिया। नर्स ने मुझे चारपाई से नीचे उतार कर काँपते हाथों से 'कान्त' जी का चेहरा चादर से ढँक दिया।

नान्हक दौड़ता हुआ घर गया। 'कान्त' जी की चारपाई के पास अकेला खड़ा मैं रोता रहा।

चिराग़ बुझ चुका था। चारों ओर अँधेरा छाता जा रहा था। उस अँधेरे में मैं डूबता जा रहा था। डूबता जा रहा था और रोता जा रहा था।

थोड़ी देर बाद सब आये। 'जगन', 'केशर', 'मधुर', भाभी, अम्मा—सभी। हाहाकार-सा मच गया।

सब रो रहे थे। पर चिराग खामोश पड़ा था। बुझ चुका था न!

पुलिस आयी। लिखा पढ़ी के बाद 'कान्त' जी के शव को चीर-घर ले जाने के लिए ताबूत में रखा गया।

सब अलग खड़े थे। मैं, 'केशर' और नागहक ताबूत के पास खड़े थे, जैसे हमें अब भी आशा हो कि चिराग बुझा नहीं है, अभी जल उठेगा। फिर रोशनी हो जायगी। दूर दूर हो गये लोग फिर पास-पास हो जायेंगे।

पर चिराग जला नहीं। रोशनी नहीं हुई। अँधेरा छाया ही रहा।

सँभाल कर ताबूत को ताँगे पर रखा गया। लग रहा था, जैसे हम लोग अपने शव को उठाकर रख रहे हों।

किसी ने पीछे से कहा--"प्यारे, तुम लोगों ने लाश छुई है। राश नले भी जाओ..." चाहा कि मुड़कर कहने वाले को देखूँ, पर देखा नहीं। ऐसों को सूरत देखने से लाभ ही क्या, जो आँखें खुली रहने पर प्रेम दिखाते हैं और आँखें बन्द होते ही पास भी नहीं आना चाहते।

मैं, 'केशर', नागहक और एक अपरिचित व्यक्ति के साथ 'कान्त' जी के शव के साथ साथ चला।

सन्नाटे को चीरता हुआ ताँगा बढ़ रहा था और हम, सब के सब, शव की तरह पास ही बैठे थे।

चीरघर!

पुलिस लाइन के आखिरी छोर पर जंगल में, रात होते ही जिधर का रास्ता बन्द हो जाता है।

ताँगे से उतार कर ताबूत को हम लोगों ने चीरघर के दरवाजे के पास रख दिया। जिस 'कान्त' के चारों ओर हमेशा दस-पाँच

आदमी बने रहा करते थे, आज वही 'कान्त' जंगल में अकेला पड़ा रहेगा—सोचकर मन में हूक सी उठी।

होता भी यही है। जब तक चिराग जलता है, परवाने मँडराते रहते हैं, चिराग बुझते ही परवानों की छाया भी नहीं रहती।

हमारा चिराग भी बुझ गया था। और हम भी अपने बुझे चिराग को अकेला, बिल्कुल अकेला छोड़कर चले आये—उस चिराग को जिसकी रोशनी से लोगों को अपनी राहें मिलती थीं, अपनी मंज़िल मिलती थी।

● ●

अशेष!

भैया कान्त की ही तरह, वह भी अब स्मृति में ही कभी दीख पड़ता है। अशेष नहीं है पर उसके हृदय का वह चिरन्तन स्पर्श हमें कभी नहीं भूलेगा।

कान्त जी को उसने जैसा देखा था, जैसा पाया था, इस संस्मरण में स्पष्ट हो आया है।

* *

फूल और पत्थर! कुंकुम और कटार!!

निरीह, मूक, निर्दोष पशु इसका अर्थ जानता है, इसलिए कि वह इसका अर्थ नहीं जानता।

और मनुष्य!—विवेकशील, विश्व का सबसे समझदार जीव—मनुष्य इसका अर्थ नहीं समझता, इसलिये कि वह इसका अर्थ सम-

झरता है। वह जानता है फूल क्या है, पत्थर क्या; वह जानता है कुंकुम क्या है, कटार क्या! और तब भी वह भोला है, अनजान है, क्योंकि वह इंसान है!

इंसान! —एक पहेली!!

जादू की एक तस्वीर का नाम इंसान है, जिसके दो पहलू हैं।

इंसान, जो प्यार से इंसान पर फूल फेंकता है।

इंसान, जो तिरस्कार से फूल फेंकनेवाले के मुँह पर पत्थर दे मारता है।

सजल, निर्मल जल में गुलाल और कुंकुम घोलकर आदमी ने आदमी पर रंगीली 'पिचकारी' मारी!

आदमी ने खीझकर प्रतिदान में आदमी के कोमल कलेजे में जहरीली कटार चुभा दी!

होली दोनों ने खेली, लाल लाल रंग से दोनों लथपथ हुए परन्तु....क्योंकि दोनों इंसान थे।

और इन्सान का नाम लेते ही आज इन्सान से नफरत हो जाती है, खून खौलने लगता है, खून गरजने लगता है।

* *

मेरे सामने एक इन्सान है, नहीं इन्सान की लाश! अब तो लाश भी मेरे सामने नहीं है, केवल लाश की एक दारुण स्मृति है। वह स्मृति घायल है। उसकी पसली में कटार चुभी हुई है। खून का गरम गरम फौवारा छूट रहा है, फौवारे से वाष्पकणों की तरह झीना-झीना धुआँ निकल रहा है। धुएँ से जाने कितने चित्र बनते-मिटते चल रहे हैं और उन चित्रों के साथ मेरी घायल भावनाएँ भागती-दौड़ती चल रही हैं। न जाने किन लहरियों पर मेरा मन झूम-झूमकर डूब-उतरा रहा है, उठ-गिर रहा है। मैं स्वयं इन बनते-

बिगड़ते चित्रों को देखना नहीं चाहता; और जब चीखकर आँखें बन्द कर लेता हूँ तो अन्धकार में चित्रपट के ये मनोहर-भयंकर चित्र और चमकने लग जाते हैं। गरम-गरम खून से उठते हुए धुएँ की ये तस्वीरें....उफ़!

* *

दिसम्बर ४७। जागरथाल कॉलेज मिर्ज़ापुर। उस दिन गुरुदेव प्रो० काश्यप ने अपने घर बुलाया मुझे, एक महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए और जब मैं नियत समय पर उनके यहाँ पहुँचा तो उन्होंने मेरे आगे एक पत्र बढ़ा दिया। पत्र श्री कुशवाहा 'कान्त' का था; उसमें एक पत्रिका निकालने की चर्चा थी और प्रधान सम्पादक का पद ग्रहण करने के लिए काश्यप जी से प्रार्थना की गई थी। यही पत्र कान्त जी का पहला साहित्य था जो पहले-पहल मैंने पढ़ा। तब तक उनके विषय में मैं बहुत कम जानता था। उसी दिन काश्यप जी ने 'नीलम' मेरे आगे रखते हुए कहा था—

"ग़ज़ब की शैली है, न जाने अब तक यह भाषा शिल्पी कैसे दबा रहा?" और उन्होंने आदेश भरे स्वर में कहा—"पढ़ डालो यह उपन्यास और अपनी राय दो। और हाँ कान्त स्वभाव से भी बड़ा मधुर है। तुम मिलकर अवश्य खुश होगे। एक पत्रिका निकल रही है, तुम अपनी रचनायें शीघ्र दे दो। देर करोगे तो पीटूँगा।"

* *

जनवरी ४८। मैं कक्षा में घुसने ही वाला था कि गुरुदेव ने मेरे हाथों में अत्यन्त सुन्दर 'गेट-अप' की एक पत्रिका रख दी। आवरण पृष्ठ पर छिटकती चिनगारियों के अन्दर में लिखा था—'चिनगारी' और उस दिन क्लास में लेक्चर के नोट्स लेने की जगह मैं पत्रिका

ही उलटता रह गया। लिपा-लपन, छपाई-सफाई, सब में एक नवी-नता, एक भव्य आकर्षण!

* *

दूसरे दिन शाम को शहर के बाहर, परन्तु शहर से दूर नहीं, महुअरिया के 'चिनगारी कार्यालय' में मैंने पहली बार पैर रखा। ऑफिस में केवल एक व्यक्ति था उस समय। रोबदार परन्तु सौम्य आकृति, आँखों पर काला चश्मा, अधरों पर खेलती हुई मीठी मुस्कान।

नमस्ते कर मैंने ऑफिस में घुसते ही पूछा—"अभी काश्यप जी नहीं आये?"

"पहले बैठिये तो!" सामने की कुर्सी की ओर इशारा करते हुए उस व्यक्ति ने सहज सस्मित स्वर में कहा—"काश्यप जी आते ही होंगे।"

मैं चुपचाप एक पत्रिका के पन्ने उलटने-पुलटने लगा।

तभी फिर अपनी मुस्कान की बाती जरा और उसकाते हुए उन्होंने पूछा—"आप तो 'प्रभंजन' जी हैं न?" (पहले मेरा यही उपनाम था)।

"और आप कान्त जी होंगे?" चौंककर मैंने प्रश्न का उत्तर प्रश्न ही में दिया।

फिर तो अपने आप ही दोनों के हाथ मिल गये और दोनों ठहाका मारकर हँस पड़े।

"भाई, आप तो जादू जानते हैं। बिना कभी देखे ही मेरा नाम बता दिया।"

"जी नहीं, जादू टोना तो आप जानते हैं। मैंने तो 'नीलम' में आपकी तस्वीर देखी थी परन्तु आपने तो बिना तस्वीर के ही छूमन्तर से मेरा नाम जान लिया।"

"अरे भई, छू मन्तर से नहीं।" खिलखिलाते हुए उन्होंने कहा—"काश्यप जी ने आपका इतना गम्भीर चित्र शब्दों से ही खींच दिया था कि आपको पहचानते देर न लगी।"

यह कान्तजी से मेरा पहला परिचय था। सदा के अपरिचित हम लोग दो ही क्षण में इतने घुल मिल गये जैसे वर्षों की घनिष्ठता हो।

* *

दिन सरकते गये, चिनगारी चमकती गई और हमारी घनिष्ठता बढ़ती गई। चिनगारी आफिस जाना दिनचर्या का एक अंग बन गया। बिना चिनगारी गये चैन नहीं। कार्यालय के दालान [illegible] जम बैठती तो रस आ जाता। उसी समय श्री० कान्त के अनुज श्री जे० पी० कुशवाहा तथा श्री प्यारेलाल गाँधारी आदि से भी परिचय हुआ। रोज 'चिनगारी' में जिन लेखों की योजना बनती। कान्त तो चमगादड़ थे ही। एक दिन उन्होंने मुझे [illegible] दिया और तब से चिनगारी में मेरा लंगूर की 'उछल कूद' आरम्भ हो गया। फिर तो चर्चा मुहल्लों में खूब जमती, बात बात पर। आह, कितने रंगीन थे वे दिन! आज तो वह याद भी कसक कर रह जाती है।

* *

मिर्जापुर से आकर मैंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में नाम लिखा लिया था। 'चिनगारी' भला कब बिखरने वाली थी, वह भी बनारस में आकर चमकने लगी। चिनगारी का प्रचार प्रसार अब खूब हो चला था। धीरे धीरे प्रगति होती गयी और पैर जमने गये। चिनगारी का अपना प्रेस हो गया, और नई पत्रिकायें निकल गईं। 'नागिन' और आगे चल कर 'बिजली'। परन्तु इतने दिनों के बीच जाने हम दोनों की कितनी स्मृतियाँ हैं। और आज तो स्मृतियों की भीड़ में मैं बनता जा रहा हूँ। बीच की सभी स्मृतियों का उल्लेख भला कैसे संभव

है इन सीमित पृष्ठों में। न जाने कितनी बार सिद्धान्त को लेकर मतभेद हुआ; कितनी बार हम दूर-दूर हुए परन्तु यह दूरी बढ़ने न पाती। उस व्यक्ति के व्यवहार में न जाने कौन ऐसा जादू था कि लड़-झगड़ कर भी हम एक ही रहते। उनका काश्यप जी से भी मतभेद हुआ परन्तु क्या मजाल की 'अपने बड़े भैया' (काश्यप जी) का आशीर्वाद लिए बिना 'कान्त' जी ने कोई कार्य आरम्भ किया हो। मैं भी सम्पादन-विभाग से सिद्धान्त का पचड़ा लेकर पृथक हुआ परन्तु मित्रता में कोई आँच नहीं आने पायी। आँसू में ममत्व की बूँदें ढुलक-ढुलक पड़ती हैं आज जब उनकी किसी भी बात की याद आ जाती है।

* *

एम० ए० मैंने इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में ज्वाइन किया फिर भी चिनगारी से सम्बन्ध टूटा नहीं। कभी-कभी बनारस भी आना होता और सुख दुख की कितनी बातें एकान्त में होती रहतीं, हँसी और आँसुओं से सनी बातें!

'पिचकारी' अंक निकालने का विचार हुआ और सभी जुट गये मैटर तैयार करने में। होली के कुछ ही दिन पहले यह बात दिमाग में आई थी अतः लेखकों से पर्याप्त रचनायें मँगाने का भी समय नहीं मिला। फिर तो सभी लंगोट कसकर अखाड़े में उतरे। प्रयाग में बैठे-बैठे मैं रोज चिनगारी का मसाला भेजा करता। बड़ी उत्सुकता थी पिचकारी अंक के लिए! रोज की डाक बड़ी उत्सुकता से देखता। अन्ततः एक दिन डाक मिली! मैं चौंक उठा! यह मधुर का एक पत्र था—पत्र में कान्त जी के घायल होने की संक्षिप्त सूचना थी और कान्त जी की ओर से मुझे शीघ्र बुलाया गया था। पत्र पढ़ते ही मैं सन्न हो गया। पहले तो विश्वास ही नहीं हुआ परन्तु थोड़ी देर बाद उसी हालत में स्टेशन भागा। पहली गाड़ी जो मिली वह पैसेंजर ट्रेन थी।

रास्ते भर मेरी अजीब हालत रही। प्रत्येक स्टेशन पर गाड़ी रुकती और प्रत्येक स्टेशन पर मेरा स्पन्दन रुकता। गाड़ी की रफ्तार जैसे-जैसे बढ़ती, मेरी धड़कन की रफ्तार भी उसी गति से। बेचैनी में मैं कभी खिड़की से झाँकता कभी घुटनों के बीच सर झुकाकर मुँह छिपा लेता....कोयले-पानी पर चलने वाली यह गाड़ी हवाई जहाज क्यों नहीं बन जाती? रोती-कांपती कल्पनाओं के साथ मेरा अन्तर बिलख रहा था।

किसी प्रकार प्रेस पहुँचा। आधी रात का सन्नाटा। सहमते-सहमते दरवाजे की घण्टी बजाई। धड़कन तेज होती चली जा रही थी। उनींदी आँखों में नींद भरे 'मधुर' ने दरवाजा खोला। मेरी जबान कुछ पूछने के लिए खुल ही नहीं रही थी। 'मधुर' को मेरे आ जाने से जैसे कुछ सन्तोष मिल गया हो क्योंकि वह प्रसन्न था उस समय। और उसकी प्रसन्नता से मुझे सन्तोष हुआ।

तूफानी भावों को बलात दबाते हुए मैंने सहमते सहमते पूछा—

"कान्त....जी की....हालत....अब...."

"अब तो ठीक है"—'मधुर' ने बीच ही में आश्वस्त किया, "डाक्टर कहता है, अब खतरा टल चुका!"

और मेरी थमती साँस में थोड़ी-सी गति आई।

'केशर' सो रहा था। मालूम हुआ कि लगातार चार दिन जागते रहने के बाद आज उसे झपकी आई है। मैंने भी जगाना उचित नहीं समझा। परन्तु मेरी साँय-साँय की आवाज ने भी उसे जगा ही दिया और सहसा बिस्तर से उठकर वह मुझसे लिपट गया, आँसुओं की गङ्गा-जमुना में हलचल हो रही थी।

अब तक भोर के पाँच बज चुके थे और हम दौड़े अस्पताल। पैरों में पंख लग रहे थे। वार्ड के दरवाजे पर ही जे० पी० मिले। भाई के सिरहाने रात भर बैठा भाई अत्यन्त उदास था। आँखें रक्तिम! कौन

जाने रात भर जगने से था चुपके-चुपके अविरल अश्रु-प्रवाह में बहते रहने से।

जब हम 'कान्त' जी के पास पहुँचे तो वे जाग रहे थे। आँखें मिलीं, प्रेमाश्रु में डूब गईं। दोनों मूक रहे कुछ देर तक। मौन हाहा-कार भीतर-भीतर ही गरज रहा था।

कान्त जी ने ही मौन भंग किया—

"कब आये?"

"अभी अभी, आपने तार दिलवाया नहीं। पत्र देर से मिला।" मैंने रुँधे कण्ठ में ओज भरने की असफल चेष्टा की।

"तुम्हारी परीक्षा निकट है न? मैंने सोचा, तार से बहुत अस्त-व्यस्त हो जाओगे।"—कान्त जी का स्नेह पूर्ववत् भावुक हो रहा था।

"अधिक बोलिये मत, आप जल्दी चंगे हो जाइये फिर ठहाके मार-मारकर पहले की तरह बातें करेंगे।" और कान्त जी के सूखे अधरों पर हँसी चमक उठी।

उसी समय मेर्टन आई और उन्हें मुस्कराते देख स्वयं मुस्करा-कर पूछा--

"गुड मार्निङ्ग! आज तो आप हँस रहे हैं, अब जल्दी चंगे हो जायेंगे, शाबाश!"

"अपने संगी साथी आकर ही बीमारी को आधा कम कर देते हैं"—कान्त जी ने मेर्टन के अभिवादन का उत्तर देते हुए कहा।

और मैं सोचने लगा—काश, संगी-साथी कुछ भी दुःख बँटा पाते!

दोपहर तक हालत बड़ी अच्छी रही, लेकिन कौन जानता था कि तूफान के पहले की यह शान्ति है।

पेट फूलने लगा। बेचैनी बढ़ने लगी। डाक्टर दौड़-धूप करने लगे और हमलोगों का धैर्य छूटने लगा।

विचित्र हालत हो रही थी सबकी। उनका असह्य कष्ट देखा नहीं

जा रहा था और 'कान्त' जी एक मिनट के लिए भी अपने से अलग होने देना नहीं चाहते थे। अपना धैर्य खोकर भी बार-बार उन्हें धीरज बँधाया जा रहा था। रात को उनकी दशा और शोचनीय हो उठी। सवेरे ही मैंने सहारे के लिए काश्यप जी को तार दे दिया था। भोर होने के पहले ही वे कलाकार विष्णुदेवनारायण सिंह के साथ हाँफते हुए पहुँचे। उस समय करुणा का सागर सा उमड़ रहा था। जिन्दगी और मौत का संघर्ष चल रहा था। अपने प्यारे 'कान्त' को इस अवस्था में देखकर काश्यप जी का भावुक हृदय टूक टूक हो गया। किसी प्रकार अपने आँसू छिपाकर वे बाहर आये और मुझसे लिपटकर बच्चों की तरह रो उठे, रोते रहे। और तब भला मैं कैसे अपने को सम्हाल पाता।

डाक्टर ने नकारात्मक उत्तर दे दिया था फिर भी हम काश्यप जी के साथ डाक्टरों के यहाँ दौड़ते रहे। रात को बड़ी कठिनाई से उन्हें जगा जगाकर हमलोग उन्हें अस्पताल लिवा लाये।

फिर सवेरा हुआ, खून में नहाता हुआ सवेरा। शहर भर के अच्छे अच्छे डाक्टर बुलाये गये। परन्तु किसी ने हमें सन्तोषजनक आश्वासन नहीं दिया। उधर 'कान्त' जी प्रेस चलने का हठ करने लगे, हम लाख मनाना करते परन्तु यह हठ बढ़ता ही गया। आज भी उनके वे करुण स्वर ज्वालामुखी के विस्फोट की तरह कानों में गूँज रहे हैं—

"अम्बिका भगवान, हम बड़ भाई होयके तोहार गोड़ पकड़त हईं, तू हमार मजबूरी नाहीं समझतऽ, हमके प्रेस ले चलऽ।" "भैया, (काश्यप जी को सदा वे भैया ही कहते थे) आप तो बड़े स्नेहमय हैं इनको समझाइये, ये मुझे प्रेस क्यों नहीं ले चलते ?"

"अशेष, आज तक मैंने तुझे छोटे भाई की तरह माना है लेकिन

कभी पीटा नहीं है, आज तुम भी मेरी बात नहीं मानोगे तो अच्छी तरह पीट दूँगा।"

"केशर, जल्दी ले चलो मुझे नहीं तो मरा मैं....उफ्..."

और हम सभी वहाँ से आँसू बचाकर बाहर निकल आये। एक दूसरे से लिपट-लिपट कर फफक पड़े। कितनी बेबसी, कितनी लाचारी थी। हम भर पेट रो भी नहीं पाये थे कि गरजती हुई उनकी आवाज आई—

"अशोक!...."

जल्दी जल्दी आँसू पोंछकर मैं दौड़ा उनके पास।

"अधिक जोर से मत बोलिये, जरा सब्र से काम लीजिये।" मैंने काँपती आवाज में अनुरोध किया।

"मुझे यहाँ से जल्दी हटाओ!" और भी गरज कर उन्होंने बेचैनी प्रकट की।

"अच्छा, अभी प्रबन्ध करके आता हूँ"—कहते हुए मैं भागा भागा जहाँ पहुँचा वहाँ काश्यप जी, जगमन जी, केशव, चन्द्रशेखर पाण्डेय, माथुर, विष्णु जी आदि विराज रहे थे। बड़ी निराशा थी। उन्हें और ले जाने में हम वैधानिक रूप से असमर्थ थे।

किसी प्रकार वहाँ से हटाकर उन्हें वार्ड के बाहर अस्पताल के छोर पर खुली हवा में लाने का प्रबन्ध किया गया। और जब डाक्टर के साथ हम उनके पास पहुँचे तो उन्होंने उस चिन्तनीय दशा में भी डाक्टर से मजाक किया—

"डाक्टर! मेरी आँखों में दृढ़ता देखो, तुम मुझे घर पहुँचा दो; यदि मैं वहाँ मर भी गया तो मुझे शांति मिलेगी नहीं तो स्वस्थ आने पर तुमसे पाँच रुपया इनाम लूँगा।" रोज जिन्दगी और मौत से खिलवाड़ करने वाला डाक्टर भी अपनी बेबसी पर गमगीन सा हो गया।

कान्त जी गेट तक आने पर शान्त हो गये थे। प्रेस में ले जाने का उनका वह हठ कुछ कम हुआ, उन्हें कुछ शान्ति मिली।

और जब पहियेदार चारपाई को धीरे धीरे ठेलकर हम लोग उन्हें वार्ड से बाहर ले जाने लगे तो एक स्वाभाविक उल्लास से दोनों तरफ कतारों में लेटे मरीजों से विनम्र होकर कहने लगे--

"अच्छा साथियो। हम तो अब घर जा रहे हैं।"

जैसे गाँव के उन्मुक्त वायुमण्डल में निश्चिन्त विचरने वाला कोई बालक किसी कोलाहल भरे शहर में ऊब गया हो और अब फिर अपने घर जा रहा हो! मुझे महाकवि टैगोर का 'फटिक' याद आ गया, जिसने सन्निपात की अवस्था में साँस तोड़ते हुए कहा था –

"Mother, the holidays have come."

* *

उस दिन उनकी दशा अत्यन्त चिन्ताजनक थी। पेट फूलता जा रहा था। इसलिए डाक्टर ने पानी देना रोक दिया था।

स्पेशल वार्ड में उनके आराम का पूरा प्रबन्ध किया गया था। आराम! भला यह भी कोई आराम है जिसमें वेदना का शतांश भी शमन न हो सके। मैं उनके सिरहाने बैठा पर सहला रहा था। तभी उन्होंने बड़े स्नेह से मेरा हाथ अपने हाथों में लेकर कहा, और जो कुछ कहा, उसको याद आते ही मैं फूट पड़ता हूँ। जीवन भर ये शब्द मुझे रुलाते रहेंगे--

"अशोक मेरे, ये नाते रिश्ते भी कितनी जल्दी टूट जाते हैं!"

मेरे अन्तर में क्रन्दन काँप उठा, परन्तु स्थिति का ज्ञान होते ही बलात् मैं आँखों का पानी आँखों में ही पी गया। हृदय की उमड़ती भावना को हृदय में ही बड़ी कठिनाई से दबा कर मैंने मुस्कराते हुए कहा था—

"नाते रिश्ते कभी नहीं टूटते, परन्तु आप ऐसी बातें क्यों कर रहे हैं ? अभी डाक्टर ने मुझसे कहा है कि आप चंगे हो रहे हैं, मात्र मामूली है, मत घबड़ाइये मत !"

उन्हें थोड़ा-सा बल मिला और बड़ी कातरता और विश्वासभरी वाणी में उन्होंने मुझसे प्रश्न किया—

"देखो, तुम पर मेरा विश्वास है। तुम सच सच बताओ, मेरी कैसी हालत है, झूठ मत बोलना।"

उनकी आशापूर्ण आँखें मेरी आँखों में कुछ खोजने लगीं। वह क्षण मेरे लिए बड़ा विकट था। डाक्टर ने जो कुछ कहा था उसे हम लोग ही जानते थे, उन्हें कैसे जानने दिया जाता। इधर इतना बड़ा विश्वास, इतनी ममतामयी निश्छलता और....और....

आँखें बरस पड़ना चाहती थीं, किन्तु उस समय आँखों में एक-एक झलक आना भी एक काँपते हुए प्राण-प्रदीप की झिलमिलाती लौ को बुझा देना था।

तब कौन आँकता मेरी बेबसी। काश्यप जी धीरे से कमरे में आये, परन्तु दूसरे ही क्षण वे झटके से बाहर हो गये। उनकी वेदना मैं समझ रहा था।

मैं फिर अकेला पड़ गया। 'कान्त' की आँखें अब भी मेरी आँखों से कुछ पूछ रही थीं। यह सब एक पल के भीतर हो गया। देर नहीं हुई। जवाब में देर होती तो जाने क्या हो जाता?

"आपको विश्वास दिला कर मैं कह रहा हूँ, आपकी हालत बड़ी तेजी से सुधर रही है। आत्म-शक्ति रखिये और अधिक बोलिये मत, बहुत जल्दी स्वस्थ हो जायेंगे।"

मैं झूठ बोल गया। सदा के लिए बिछुड़ते बन्धु को धोखा दिया। यह विश्वासघात मेरे तन-मन में आग की लपटों की भाँति आज भी जलता रहता है।

मेरे आश्वासन पर 'कान्त' जी मुस्कुराये, आँखों में एक चमक आ गई। थोड़ी देर न जाने क्या सोचकर बोले—"देखो, अब तो लड़ ही रहा हूँ।"

और मैं कैसे न समझता कि जीवन भर अपने सम्मान की रक्षा में किसी के आगे सर न झुकाने वाला वह मनस्वी, आज किससे लड़ रहा है। उनकी आँखों की ओजपूर्ण आभा में ब्राउनिंग की ये पंक्तियाँ साफ साफ पढ़ रहा था—

I was ever a fighter. So-one fight more.
'The best and the last !'

कुछ लोग कमरे में आ गये थे, मैं बाहर निकला। काश्यप जी हथेली पर सर टिकाये, भाव में डूबे हुए थे। मैंने उनसे शीघ्र वहाँ से भाग चलने का हठ किया। उस पर हठ किया वहाँ से भाग चलने के लिये, जहाँ अपना मरता भाई पानी के लिये प्राण तोड़ता हो, सिसकी भरता हो और जिसे दो बूँद पानी तक न दिया जा सके। जिसकी साँस टूट रही हो उसके साथ छल करना पड़े, विश्वासघात करना पड़े!

* *

और इन्सान की लाश अब भी स्मृति के सामने है। खून के फौव्वारों से अब भी झीना झीना धुँआ उठ रहा है, उन धूम्र-रेखाओं से जाने कितने मनोरम भयङ्कर चित्र बन-बिगड़ रहे हैं।

चित्र! जिनको देख आँखों के आँसू अङ्गार बन जाते हैं। धमनियों में खून खौल उठता है, खून गरज उठता है।

● ●

जयन्त भाई के इन दो बूँद आँसुओं में पीड़ा का पारावार दीख पड़ता है। अपने स्नेहमय अग्रज के असामयिक वियोग ने उन्हें विचलित कर दिया था।

भैया को इन्होंने अत्यन्त निकट से देखा था। दोनों के शरीरों में एक ही रक्त हिलोरें मारता था। और अनायास ही, एक दिन ऐसा भी आया कि दुर्दैव के कराल चक्र में, अपने सहोदर को पिसता हुआ, अस्तित्वहीन होता उन्हें देखना पड़ा। और वे खोयी-खोयी, लुटी लुटी आँखों से देखा किये।

उनके दो बूँद आँसुओं के इस करुण-चीत्कार में, हृदय की छटपटाहट और मानस की वेदना-संकुलता मूर्त हो आयी है।

* *

किस लेखनी से, किन शब्दों में अपने हृदय की अव्यक्त वेदना आपके सामने रखूँ? दुर्दैव की निष्ठुरी करवट ने जो हाहाकारी वज्रपात निरपराध परिवार पर किया था उसे किस साहस से व्यक्त करूँ? हमारा संसार तो लुट ही गया। क्रूर आततायी के छुरे ने हमारे हृदय को केवल विदीर्ण ही नहीं किया वरन् परम निर्दयता से पद्-दलित भी कर दिया है। काश, कोई हमारा हृदय चीरकर देखता कि आज उसमें कैसा कोलाहल मचा है। अन्तर के एक-एक कण में, रक्त के एक-एक बिन्दु में हाहाकार का जो तूफान उठ रहा है, उसे व्यक्त कर सकना मुझ अभागे द्वारा असम्भव है।

पारिवारिक नियमों के अनुसार वे मेरे अग्रज थे। किन्तु स्नेह के 'बंधन' का हम अपना क्या रिश्ता बतायें? माता-पिता या अन्य गुरु-जनों के स्नेह से वंचित होकर जिसने उस एक ही हृदय से निकले हुए,

असीम स्नेह की भाषा में पिता जैसा वात्सल्य पाया, जीवन संग्राम में पतित होने पर जिसने सच्चे गुरु जैसा राह दिखाया, उसकी उस विमल स्नेहधारा को लिपिबद्ध कर सकने की शक्ति मुझमें नहीं। आज हमारा संसार लुट गया है, हम उजड़ गये हैं। भैया तो परम शांति की खोज में चले गये, हमें अपना पावन स्मृति में सदा के लिये बिलखता हुआ छोड़कर।

पिता, गुरु, भाई के जिस निर्मल स्नेह से उन्होंने हमें निहाल किया था शायद इसीलिये कि भविष्य में हमें भी ऐसा ही करना होगा।

आह! उन नसों और निर्मल भावों का उतरा हुआ, स्नेह सिंचित चेहरा जब हमारे सामने आता है, तो हृदय की गति का अन्दाज लगा सकना स्वयं अपने लिये कठिन हो जाता है। उनके दारुण शोक में हृदय का भरा हुआ गरम आंसुओं से सिक्त हो जाता है। हृदय आर्तनाद कर उठता है—"अरे, नराधम, क्रूर आततायी हम सबको शोक सागर में डुबा कर के तेरा जालिम छुरा शान्त क्यों है, ले आ—यह वक्षस्थल भी खुला है, चाक चाक कर दे इसे भी, इसका भी अन्त हो जाय।"

हम आपको क्या कहें, वे तो आपके ही थे। किन्तु उनके सम्पर्क में आया कोई भी व्यक्ति असन्तुष्ट रह सका हो, विश्वास नहीं होता। जिसने कभी विरोध भी किया—पीठ पीछे, सामना होते ही पानी-पानी हो जाता था। दानवता का ताण्डव नृत्य, मानवता का घोर पतन!....उद्यान को सुरभित करनेवाले गुलाब के कोमल कलेवर पर उस नर पिशाच का हाथ कैसे उठा! आज के नामधारी मानव से कहीं अच्छे तो वे दरिन्दे हैं, जो स्नेह का परिचय पाकर पालतू बन जाते हैं। जिसने हमेशा स्नेह की वीणा बजाई, जिसकी लेखनी ने मुर्दों में भी जान फूँक दी, अपनी साहित्य की विमल-धारा

से जिसने दूसरों की व्यथा मिटाई, समाज की गन्दगी का जीता-जागता चित्र प्रस्तुत किया, अन्त में उसी का यह बलिदान चीख-चीखकर कह उठा है कि आज का मानव, मानव नहीं, दानव है।

भगवान जिस पर दुःखों की वर्षा करते हैं, उसके हृदय को भी पत्थर बना देते हैं। यदि यह न होता, तो उनके चिर-वियोग के साथ आज मैं इस योग्य न रहता कि उस वियोग को शब्दों में मूर्त कर सकता।

नियति का यह विधान अजीब है। दुखावेग से इच्छा तो यही होती है कि इस निर्मम समाज का चिर त्याग कर दूँ। किन्तु कुछ तो कर्त्तव्य और कुछ स्वभाव का पहेलीमय विधान यह होने नहीं देता। हम जानते हैं कि भैया हमारे साथ नहीं हैं, मगर प्रेस, पत्रिकाएँ, उनकी पुस्तकें उनके कागज-पत्र, विस्मृति के झीने आवरण पर स्मृति की खरोंच देते रहते हैं और शायद चिरकाल तक देते रहेंगे। उन्हीं के बीच बैठकर इस पाषाण हृदय को कर्तव्य निर्वाह करना पड़ेगा।

अपने जीवन के थोड़े काल में ही भैया ने जो साहित्य-साधना की, माता सरस्वती की प्रतिमा को जिस प्रकार अलंकृत किया, आशा है, साहित्य और उसका इतिहास कभी न भूलेगा।

शहीद, कलाकार और साहित्यिक कभी मरते नहीं, अमर रहते हैं। उनकी अमर कलाकृतियाँ हमें उनकी याद दिलाती रहती हैं।

भैया की याद हूक सी बनकर उठ पड़ी है अन्तर में और उसी 'हूक' के आवेग से ये लोचन जाने क्यों भर आये हैं....। काश, कि मेरा भैया देख पाता अपने इस अभागे बन्धु के नयनों में घिर आई खारे नीर की काली घटाओं को, घटाओं से झरती इन आँसुओं की बूँदों को!

● ●

मधुर ने भैया कान्त का जितना नैकट्य पाया था, वह सर्वोपरि तो है ही। जीवन के आखिरी दौर में वह भैया की जीवन-गरिमा से सम्पृक्त-सा हो गया था।

घायल होकर जब वे आये थे तो मधुर ही ने पहले पहल उनको देखा था। उस हाहाकारी क्षण का चित्रण, डायरी के इन पृष्ठों में बड़ी मार्मिकता से चित्रित हुआ है।

* *

भैया 'कान्त' के अत्यन्त निकट रहने का सौभाग्य मैंने पाया था। और यह भी उतना ही सत्य है कि मेरा वर्तमान जीवन उनके उस अमूल्य नैकट्य का ही प्रसाद है। केशव भाई ने मुझे आदेश दिया कि मैं भी भैया की स्मृति में कुछ लिख दूँ। उनकी प्रस्तुत पुस्तक के एक एक शब्द को लेखनकाल में ही, लोभी बालक की भाँति चाट-चाट गया हूँ। उन्होंने जिस अपूर्व और अन्तस्स्पर्शी शैली में भैया का संस्मरण सँजोया है, उनके व्यक्तित्व की परत में छिपी सत्य-निष्ठा का परिचय दिया है, वह अपने में असाधारण तो है ही; भैया के हम जैसे अपनों को हिलाकर भी रख देगा।

भैया कान्त से मुझ अकिंचन ने इतना स्नेह पाया, जो अपने माता पिता बन्धु-बान्धवों से भी नहीं मिल पाया। अन्त समय में, मुझसे उनके प्रति कुछ ऐसे अपराध भी हुए हैं, जिनके लिये मैं कभी भी अपने को क्षमा न कर सकूँगा। खैर।

बहुत सोचने के बाद भी मैं निर्णय नहीं कर पाया कि भैया कान्त के लिये मैं क्या और कैसे लिखूँ—रुला कर रख देनेवाली स्मृतियों के भंडार से किसे स्पर्श करूँ—सब तो आँसुओं में डूबी पड़ी हैं।

किसी विचारक ने कहा है—मनुष्य की हँसी के, मुस्कानों के क्षण, पीड़ा और अवसाद के एक ही झोंके में अपना अस्तित्व गवाँ

बैठते हैं और तब पीड़ा और अवसाद के अतिरिक्त उसके पास कुछ रह ही नहीं जाता ! भैया कान्त के बलिदान के उपरान्त, मेरे मानस में यह स्मरण नहीं। अन्त समय की पीड़ा, अवसाद और क्रन्दन में उभ-चुभ करने के क्षण भी मूर्त हो उठते हैं, जिसे सहने में हम-सब अस्तित्व शून्य से हो गये थे।

स्थानाभाव की विवशता भी सामने है; सो उन वज्रपाती दिनों की अपनी डायरी के कुछ पृष्ठ दे रहा हूँ।

शुक्रवार २७ फरवरी '४२

भैया पत्रिकाओं तथा प्रेस के काम से निस्तेज-से हो गये हैं। आज कल 'चिनगारी', 'भारत' और 'निर्णय' के सम्पादन का सारा उत्तर-दायित्व भैया जी ही सम्भालते हैं। कभी कभी मुझे भी उनकी सहा-यता करनी पड़ जाती है। आज, कई फार्मों के प्रूफ देखे। घर से खाना आया तो भैया ने अनिच्छा प्रकट की। मैंने बहुत जिद की तो थोड़ा सा खा लिया। खाते खाते, अचानक मुझे व्यंग-से बोले—'आज भर को बहुत दे दिया है। तुम सब खाते रहो। 'चिनगारी' जैसी कामधेनु तो है ही....'

व्यंग बहुत तीखा था। व्यंग नहीं, यह उनके मर्म के घाव की टीस थी—मैं खूब समझता हूँ।

आज कल भैया अजीब होते जा रहे हैं। रात दिन सिगरेट के धुएँ और अंग्रेजी पुस्तकों में डूबे रहते हैं। उधर से ध्यान बँटते ही बम्बई जाने का प्लान बनाने लगते हैं। बम्बई से उन्होंने एक पत्रिका निकालने का निश्चय कर लिया है। जीजी के आने भर की देर है। पर वह आयेगी भी तो कैसे ? मैं सोच नहीं पाता। आज रात में जब हम बिस्तरे पर लौट रहे थे तो उन्होंने बतलाया—'१६ मार्च मेरे जीवन का चिरप्रतीक्षित दिन होगा। उस दिन हम सब बम्बई रहेंगे। तुम्हारी

ठीक ही....' मैं सुनकर चौंका—'पर वह तो यहाँ हैं नहीं....' बोले—'आ जायेंगी, तुम चिन्ता नहीं करो। शास्त्री जी से समझौता हो गया है। वे खुद ही रास्ते से हट जायेंगे....' उनकी यह बात मेरी समझ में नहीं आयी। शास्त्री जी को मैं खूब जानता हूँ। तभी रिक्शा जालपा देवी के पास रुक गया। वहाँ भीड़ लगी थी। सड़क से जाते हुए एक आदमी पर, ऊपर से पत्थर की पटिया गिर पड़ी थी। सिर फट गया था... लोग बेहोशी की हालत में उसे अस्पताल ले गये थे। भैया के मुख से अस्फुट स्वर में निकला—'मौत किधर से और कब टपक पड़ेगी इसे कौन जानता है?' खून देखकर मेरा जी घबरा उठा था। जल्दी से प्रेस चले आये। भैया बाहर वाले बड़े रूम में ही बैठ गये। मैं अन्दर कपड़े बदलने चला गया। आया तो वे नहीं दीखे। मारी बैठा था। पूछा तो पता चला, कहीं से फोन आया था, अभी आने को कह कर वे चले गये हैं। मैं जाने क्यों परेशान हो आया। घर से खाना आया था; पर अकेले खाने की इच्छा नहीं हो रही थी। मारी से सिर में तेल लगवाने लगा कि दौड़ता हाँफता भद्रसेन (कुबेर जी का साला) आया और उसने जो समाचार दिया, उसने मुझे और मारी दोनों को अवाक् बना दिया।

भैया के पेट में किसी ने छुरा मार दिया....वे बेहोशी की हालत में कुबेर जी के घर पर पड़े हैं....पागल की तरह भागा....रास्ते में रह रहकर शास्त्री जी की मूर्ति सामने आ जाती....उन्हीं की करतूत होगी यह! थोड़ी ही देर पहले तो भैया ने समझौते वाली चर्चा करते हुए कहा था—'शास्त्री देवता हैं!'

और अब सोचता हूँ, देवता और दानव में क्या कोई फर्क नहीं होता!

भैया अपने ही खून में लथ-पथ थे। होश में थे। मुझे घबराया देख, उन्होंने आश्वासन दिया। उन्हें अस्पताल ले जाने की तैयारी

की गयी और कोई सवारी नहीं मिल पायी। सड़क पर गिट्टियाँ बिछी था। किसी तरह साहस देकर उन्हें पैदल ही अस्पताल ले आया गया। इतनी भयानक अवस्था में भी उनकी आत्म शक्ति डिगी नहीं थी। अस्पताल पहुँचते पहुँचते छोटे साहब (जगन्त जी) भी आ गये। भैया पीड़ा से विकल हो रहे थे। उधर डाक्टर उस व्यक्ति के इलाज में व्यस्त थे, जिसके सिर पर पटिया गिर पड़ी थी। मैं पागल सा डाक्टरों के पीछे दौड़ता रहा। भैया के पेट में असह्य पीड़ा होने लगी। उन्हें बेंच पर लिटा दिया गया। अपने आप में हीनता का सा अनुभव होता और सोचने लगता—मैं डाक्टर क्यों न हुआ ?

अन्त में डाक्टरों ने भैया की ओर नजर फेरी। घावों की जाँच के बाद, जब उन्होंने हमें न घबराने का आश्वासन दिया तो जान में जान आयी। ऐसी स्थिति में छोटे साहब का धैर्य सचमुच प्रशंसनीय था। सिर के जख्म की मरहम पट्टी हुई। पेट वाले ज़ख्म में टाँका लगा दिया गया। वार्ड में, लोहे के अस्पताली पलंग पर लिटाया गया तो वे अपने में स्वस्थता का अनुभव करने लगे थे। छोटे साहब डाक्टरों से कुछ बातें करने चले गये थे। मैं ही अकेला रह गया था, उनके पास।

उन्होंने मुझसे सब कुछ बतलाया।

फोन पर उन्हें मिलने के लिये बुलाया गया। वे गये पर वहाँ कोई मिला नहीं। रास्ते में, किसी ने उनके सिर पर लोहे के मोटे छड़ से आघात किया। आघात उन्हें रायफल की गोली की तरह प्रतीत हुआ। रिक्शेवाले ने रिक्शा भगाकर एक पानवाले की दूकान के पास रोका। उसी समय एक व्यक्ति सहायता करने का ढोंग रचकर उनकी बगल में रिक्शे पर आ बैठा। बीच रास्ते में, उसने छुरा मारा और कूदकर भाग गया। वे होश में थे। रिक्शा तेजी से भगाने का आदेश दिया। कुबेरजी के मकान के पास रिक्शा रोककर उन्होंने उन्हें पुकारा और तब....

"जाते समय मुझे भी साथ ले गये होते तो आज इस पिशाच 'देवता' से यह अनर्थ करते न बनता ..."

"मेरे विश्वास को यह पहली ठोकर लगी है मधुर !...." उनका स्वर बेतरह काँप रहा था।

रात कितनी भयंकर, कितनी दर्दनाक, कितनी घुटनमय अशान्तिपूर्ण थी मेरे लिये।—उफ् !

भैया के कमरे में मैं खून रो रहा हूँ। घृणा और प्रतिशोध भावनाओं का ज्वार सा उमड़ा आ रहा है और मैं उसमें खोता जा रहा हूँ।

१ मार्च शनिवार—'५२

सुबह कुछ देर के लिये झपकी आ गयी। छोटे साहब के कहने पर घर समाचार देने चला गया। सब के सब बेतरह उद्विग्न थे।

घर आने पर अनेक बातें परिवार के बीच हुईं। वहाँ से नित्य क्रिया के बाद मैं अस्पताल गया। कान्त जी के टट्टी नहीं हुई। दोपहर के बाद से उनकी हालत चिन्ताजनक हो उठी। हम लोगों की उम्मीदों पर पानी फिरने लगा। शेखर को लेने, उसके घर गया। कान्त जी ने आनन्द को तार दिलवाया। साथ ही अशोक जी एवं बड़े भैया (काश्यप) को पत्र भी लिखा।

शाम तक मिलने वालों की भीड़ रही। रात को मुझे उनके पास रहने की अनुमति छोटे साहब ने नहीं दी। क्योंकि कान्त जी भाभी के लिये चिन्तित थे और मुझे उन्हें लाने के लिये कह रहे थे।

मैं कैसे जा सकता था? मेरे लिये वहाँ के दरवाजे बन्द हो गये थे। इस पर विचार किया गया और मुझे कहीं नहीं जाने दिया गया। और न मैं कान्त जी को उस स्थिति में छोड़कर कहीं जाना चाहता हूँ।

२ मार्च रविवार - ५२

प्यारे (आवारा) आज आ गया। और उसने कान्त जी के मित्रों एवं परिचितों को पत्र लिखे। कान्त जी उसे देख कर आश्वासित हुए और बोले तुम और केशर हमेशा मेरे पास रहो। यह बात उन्होंने डाक्टर से भी कहा। डाक्टर ने स्वीकृति दी।

३ मार्च सोमवार—५२

रात केशर और आवारा कान्त जी के पास रहे। आज उन्हें पाखाना हुआ। स्वास्थ्य में सुधार के लक्षण। मेरे टूटते दिल में, नूतन शक्ति लहराई। भैया मेरे निर्माता ही नहीं, अवलम्ब भी तो हैं और वही अवलम्ब....नहीं, मुझसे यह सोचा नहीं जाता।

४ मार्च मंगलवार—५२

अशेष जी भी रात में आ गये। और उन्होंने शिकायत की कि मुझे तार देना चाहिये। कान्त जी ने कहा—"तुम्हारी पढ़ाई का ध्यान था। किन्तु तुम्हें बुलाया इसलिये कि कहीं अन्तिम समय तुम्हें देख न पाऊँ।" अशेष जी ने उनकी उस बात को हँसी में उड़ाने की चेष्टा की पर मैंने देखा उनकी आँखें भर आयी थीं। इसी बीच नर्स ने कहा अधिक बात न करें। तो उन्होंने हँसकर कहा—"आप नहीं जानतीं, इन लोगों से बात करने से मेरा घाव भरने लगता है।" और वे फिर बोलने लगे।

दोपहर के बाद कान्त जी को तेज प्यास लगने लगी। पेशाब बन्द हो गया और पेट तन गया। हम लोगों का उत्साह एवं जीवन गिरने लगा। प्रत्येक डाक्टर एवं नर्स से हम उनके बारे में ठीक जानकारी प्राप्त करने की कोशिश करने लगे।

मेरा मन तो धधका उठा है। मेरे चारों ओर अन्धकार घनीभूत हो उठा है।

५ मार्च बुद्धवार—५२

रात को कान्त जी को नींद नहीं आयी। पेट बिलकुल तन गया है। साँस लेने में कष्ट होता है। प्यास लगती है किन्तु बर्फ के कुछ टुकड़े दिये जाते हैं। वे भी अधिक माँगने पर ही। डाक्टर आदि भी परेशान हैं। दोपहर को जब केशर ने पानी देने से इन्कार किया तो कान्त जी बच्चों का-सा हठ कर बैठे—"केशर, तुम मुझे प्यासा रखना चाहते हो। मैं तुम्हें कितना प्यार करता हूँ। तुम मुझे पानी भी नहीं दे सकते।" केशर ने कहा—"पानी पर कंट्रोल लग गया है। अधिक नहीं मिल रहा है।" वे बोले—"तो ब्लैक मार्केट से ले आओ। जाओ, जगन से रुपया माँग लो। वह अपने भाई के जीवन के लिये रुपये का मुँह नहीं देखेगा।" हम लोगों ने केशर को वहाँ से उठाया और उन्हें आश्वासन दिया कि केशर पानी लाने गया है। वे स्थिर हुए। किन्तु उनकी विचार शक्ति छीजती जा रही थी। वे क्या बोलते थे स्वयं भूल जाते। कभी क्रोधित हो उठते और कभी प्रसन्न और कभी भयभीत। यह स्थिति शुभ सूचक मुझे नहीं लगी।

डाक्टर ने एनिमा देकर टट्टी करानी चाही। और भी अन्य उपाय किये गये, किन्तु बाजी बराबर असफलता के ही हाथों रही।

आठ बजे रात को डाक्टरों ने वह सुनाया जिसे हम कभी सुनना नहीं चाहते थे। उन्हें प्रातः की प्रथम किरण तक मेहमान बताया। हमलोग रोने लगे। उसी समय बड़े भैया (काश्यप जी) गया से आये। हम लोगों के साथ ही वे भी 'मेरे कुका!' कहकर बिलख उठे। जब वे आये थे, कान्त जी को वार्ड के बाहर मृत्यु की प्रतीक्षा करने के लिये कर दिया गया था। वे बकझक रहे थे और सभी मिलने वालों की भीड़ उन्हें घेरे थी। वे बराबर बात कर रहे थे, कभी ठीक कभी गलत। किन्तु अभी उनमें सब को पहचानने की

शक्ति थी। वे जब हम लोगों से पूछते कि क्या मैं नहीं बचूँगा, डाक्टर क्या कहते हैं? मृत्यु की छाया में पड़े उस महामानव को हम झूठी तसल्ली देने में लगे थे। आँसू पोंछकर और हँसकर हम झूठ बोलते कि आप को कुछ नहीं हुआ है और उसके बाद वहाँ से भाग कर खूब रोते थे।

जब त्रिलोक की माँ उनसे मिलने गयीं तो कान्त जी रो पड़े, बोले—"हमके माफ कर दिहे। हम तोके खूब दुःख दिहा....वही क फल भोगत हई। कहा सुना माफ जरूर कर दिहे....नमस्ते!"

ओह, वह भरी संसार की कितनी बड़ी ट्रेजडी लगी थी। त्रिलोक की माँ ने उस ट्रेजडी को कितने धैर्य से स्मिति में प्लावित कर दिया था और कहा था—"तोके कहाँ कुछ भैल हौ!"

आज की रात पूरी कहर की रात थी। हम लोग एक हो गये थे। दुःख ने एक कर दिया था। एक ही प्रश्न था—कान्त जी का जीवन!

हम लोग हारे नहीं। डाक्टरों को जबरदस्ती उन्हें देखने को बुलाते। कान्त जी अपनी आँखें पूरी खोलकर कहते—"देखो, डाक्टर, अभी मैं नहीं मर सकता।"

और डाक्टर सचमुच घबड़ा उठे। बोले—"कितना तगड़ा 'विलपावर' है। अतड़ियों में लकवा मार गया है तो भी यह अब तक जीवित है। इसे तो अब तक मर जाना चाहिये।"

हम लोगों ने रो-रोकर सुबह कर दी। पहली किरण को हमने और कान्त जी ने भी देखा किन्तु मृत्यु कहीं नहीं दिखायी पड़ी।

६ मार्च बृहस्पतिवार—५२

कान्त जी सुबह डाक्टरों के कहे मुताबिक नहीं मरे तो सब को बड़ा बल मिला। हम लोगों ने बाहरी डाक्टर बुलाने की आज्ञा माँगी और मिली। डाक्टर चतुर्वेदी को हम लोगों ने बुलाया। बनारस

हिन्दू युनिवर्सिटी के सर्जन डाक्टर कर्नल वैद्या भी बुलाये गये। सब ने भैया को देखा।

इस बीच कान्त जी अधिक अँग्रेजी ही बोल रहे थे और कह रहे थे "मुझे चिनगारी ले चलो, जग्गन, केशर, अशेष, मधुर, भैया (कश्यपजी) आवारा, कहाँ हो तुम लोग, मुझे ये लोग मार डालेंगे। मुझे चिनगारी ले चलो।" हम लोगों ने उन्हें चिनगारी ले जाने की आज्ञा माँगी किन्तु नहीं मिली। उधर कान्त जी जिद करने लगे। डाक्टर चटर्जी ने उन्हें बहलाने के लिये दूसरे वार्ड में ले चलने को कहा। और उन्हें बताया कि चिनगारी ले चल रहे हैं। वे वार्ड के सभी मरीजों से कहने लगे—"भाइयो, मैं तो घर चला। नमस्ते, कहा-सुना माफ करना।" सभी रोगी अपना दुख भूलकर उनकी शुभकामना करने लगे थे। डा० चतुर्वेदी ने आपरेशन की सलाह दी।

७ मार्च शुक्रवार—५२

सभी डाक्टरों ने मिलकर आपरेशन करने का निश्चय किया। किन्तु यह भी कहा कि जीवन की जिम्मेदारी नहीं लेते। छोटे साहब से एक फार्म पर दस्तखत लिया गया। उन्होंने भी कान्त जी के जीवन के लिये अपना आखिर दाँव लगा दिया। उम्मीद कितनी बड़ी चीज होती है। शायद ऑपरेशन ही उनकी रक्षा कर दे।

जब उन्हें ऑपरेशन थियेटर में ले जाया गया, हम लोगों की साँस अधर में लटकी थी उस वक्त तक, जब तक अन्दर से डाक्टर चटर्जी नहीं निकले। और जब वे निकले तो उनका चेहरा प्रसन्न देखकर सन्तोष हुआ। ऑपरेशन सफल हुआ था। उन्हें वहाँ से स्पेशल वार्ड में रखा गया। नींद की दवा दी गयी। एक बार पुनः हम प्रसन्न नजर आने लगे। उस वक्त २॥ बजे थे।

अशेष जी और बड़े भैया आज चले गये। हम लोगों ने रोकना

चाहा तो बोले —"जिसे बोलते देखा है, उसकी चुप्पी हम नहीं देख सकते।" 'आशा' भी इलाहाबाद गया। कल आ जायगा।

ऑपरेशन के पश्चात् घाव बन्द नहीं किया गया। अंतड़ियों में लकवा मार जाने से शौचादि नहीं हो पा रहा है। इसलिये घाव को रबर की नली लगा दी गयी है। उसी से मल मूत्र बाहर निकल रहा है। यह कब तक चलेगा? इसके बारे में डाक्टर भी मौन रह जाते हैं। कान्त जी को नींद नहीं आती है। नींद दवाइयों के बल पर लायी जाती है।

८ मार्च शनिवार—५२

आशा आज इलाहाबाद से वापस आ गया। कान्त जी के बारे में सभी चिन्तित हैं। बाहर के डाक्टरों ने राय दी कि इन्हें लखनऊ ले जाया जाय। हम लोगों ने अस्पताल के डाक्टरों से आज्ञा चाही। वे हम लोगों के प्रति दयालु हुए, कहा —"आप लोगों को जहाँ ले जाना हो ले जायें।" उन्होंने एम्बुलेंस की सहायता देना भी स्वीकार किया।

कान्त जी ने, आशा और केशर को अपने साथ चलने के लिये कहा। इनके अलावा कान्त जी के अनुज और अन्य शुभेच्छु भी जाने के लिये तैयार हुए। मैं भी चाहता हूँ कि चलूँ किन्तु मुझे यहीं रहने की आज्ञा मिली है।

रात को जब स्टेशन ले जाया जा रहा था, हम लोगों में नया जोश था। लग रहा था कि मौत हमलोगों से हार मान लेगी। किन्तु ईश्वर को कुछ और ही स्वीकार था। जब ट्रेन में चढ़ाया जाने लगा तो कान्त जी उद्भ्रान्त हो उठे और उन्होंने वह बोतल जिसके द्वारा मल मूत्र का निष्कासन होता था झटके से गिरा दी। बोतल फूट गयी। डाक्टर चतुर्वेदी घबरा उठे और उन्होंने तत्काल ही उनकी परीक्षा की और यात्रा स्थगित कर देने को कहा। हमारी प्रसन्नता की

गायब हो गयी। हम पुनः भटके पथिक की तरह आशा की कोई किरण पाने लगे, चलने के लिये। हमारे हृदय धड़क रहे थे। लग रहा था, वह यमदूत जिसे हमने दुत्कार कर हटा दिया था, नया जीवन लेकर आक्रमण कर रहा है।

पुनः वे सरकारी अस्पताल में दाखिल हुए। उनकी हालत बड़ी नाजुक हो रही है।

९ मार्च रविवार—५२

आज उनके स्वास्थ्य में सुधार है। उन्हें शौच भी हुआ। अधो वायु भी खुला। इतना होने पर भी मानसिक दशा में विकृति आ गयी। वे मंड बंड बकने लगे हैं, जिसको जिसको मारने और गाली देते हैं। रामनाथ उन्हें समझा रहा था। उन्होंने उसके हाथ में जोरों से दाँत गड़ा दिये। आचार्य ने उफ तक नहीं की। इसके बाद कान्त जी रोने लगे। जाने ईश्वर को क्या मंजूर है?

१० मार्च सोमवार—५२

कान्त जी आज और पागलपन में हैं। कल से आज हालत गिरी ही है। उनकी नाड़ी की गति धीमी पड़ गयी है। डाक्टर चतुर्वेदी ने देखा और बताया—"हो इज आउट आफ डेंजर!" सुनकर सान्त्वना मिली। किन्तु अस्पताल के सर्जन चटर्जी ने बतलाया कि घाव सड़ रहा है और जहर खून में मिल रहा है। मुझे लगा यह जहर उनके खून में नहीं मिल रहा है, यह हमारी रगों में प्रवेश कर रहा है।

जे० पी० साहब से ऑफिस में कान्त जी के विषय की और भी अन्य बातें हुईं। साथ ही 'चिनगारी' के भविष्य के बारे में भी हम चिन्तित हुए।

११ मार्च मंगलवार—५२

कान्त जी की हालत आज भी वैसी ही रही।

१२ मार्च बुद्धवार—५२

मेरे मन में नाना प्रकार की चिंतायें थीं। कान्त जी के जीवन के बारे में अनिश्चय स्पष्ट था, किन्तु अपने भीतर के सत्य को झुठलाने से आशा मिलती थी। अपने बारे में मैं सोचता था कि क्या कान्त जी का परिवार मुझे निगरानी में रहने देगा? किन्तु यह मेरा भ्रम था; क्योंकि अभी परसों जे० पी० साहब ने मुझसे कहा था कि यह तुम्हारे ऊपर है हम लोगों के साथ रहो या जहाँ जाओ। यहाँ रहना चाहोगे तो छोटे भाई की ही तरह मानूँगा। मेरे मन में उनके प्रति श्रद्धा हुई थी और मैंने निश्चयपूर्वक कह दिया था कि मैं यहीं ही रहूँगा। आप जाने को कहेंगे तभी जाऊँगा। हमारी वजह से ही यह विपत्ति आप लोगों पर आयी। उन्होंने कहा था—नहीं, मैं जानता हूँ तुम्हारा भाग इसमें कुछ नहीं था। जो होना था हुआ। भवितव्य को कौन रोक सका है?

दोपहर के बारह बजे हैं। आज होली है। चारों ओर खुशी अपना चादर बिछाये है। दुनिया भर का गम हमलोगों को घेरकर बैठा है। जीवन सड़कों पर बनारस की गलियों में पिचकारी से रंग-गुलाल उड़ा रहा है। और मृत्यु स्पेशल वार्ड वाले कमरे में, कान्त जी के सिरहाने खड़ी है।

उसी समय घर गया। सड़क की रंगीनी देखकर सिहर उठा। उस रात का खून से लाल दृश्य आँखों के आगे कौंध गया।

जब अस्पताल लौटा तो पाया कि कान्तजी तो हैं किन्तु प्राण-हीन। मैं रो पड़ा। और लोगों का भी यही हाल था।

अस्पताल के दूसरे भाग में नर्सों का झुण्ड होली मनाने में लगा था। बैण्ड बज रहे थे, एक दूसरे के मुँह पर अबीर पोते जा रहे थे। हम प्राणहीन-से, शून्य में निहारते, आँसुओं में डूबे पड़े थे। लाश हमें नहीं मिली, उठाकर मुर्दाघर में रख दी गयी; क्योंकि अभी

पोस्टमार्टम होना बाकी था। छुरा लगने से कान्त जी की मृत्यु हो गयी थी। मृत्यु के पश्चात् भी उनके अंगों पर छुरा लगाना आवश्यक था, क्योंकि उनकी मृत्यु का रहस्य भीतर ही छिपा था न। उसे जानना जरूरी था।

मुझे विश्वास नहीं हो पा रहा था कि कान्त जी मर गये। वे तो मेरे भीतर अब भी जीवित हैं। अपनी विवशता पर मुझे बड़ी तरस आयी। इसके आगे क्या कोई किसी का साथ नहीं दे सकता। चाहते हुए भी हम क्यों तटस्थ हो गये थे?

रात भर मैं जागता रोता, बिलकुल एकान्त में। मेरे पास कौन था? कोई नहीं, यहाँ तक कि स्वयं मैं भी नहीं। मेरी अन्तःदृष्टि के आगे नये पुराने चित्र घूम रहे हैं--बस।

१३ मार्च बृहस्पतिवार

भोर से सब लोग आँखें भरे हैं। कोई किसी से नहीं बोल रहा है। क्योंकि दुःख ने सबको एक कर दिया है।

हमलोग बैठे हैं। ऐसे में ही रामनन्दन मिश्री आये और बोले—"लहास आ गेल!" मुझे बड़ी व्यथा हुई। और दिन जिसके आने के लिये कहा जाता था "भैया, आ गये।" आज कहा जा रहा है कि "लाश आ गयी।"

एक बजे अर्थी उठी और दो बजे तक चिता तैयार कर आग लगा दी गयी। तीन-चार के करीब उन्हें गंगा में अर्पित कर दिया गया....

न कुछ हम हँस के सीखे हैं, न कुछ हम रो के सीखे हैं
जो कुछ थोड़ा सा सीखे हैं, तुम्हारे हो के सीखे हैं

कुशवाहा कान्त के पाठकों के मन में उपर्युक्त पंक्तियाँ और साथ ही 'तुरन' सदैव रहस्य बनकर घुमड़ती रही हैं। उन्होंने अपनी सम्पूर्ण रचनायें 'तुरन' को ही क्यों समर्पित कीं? —अपने सर्वप्रिय कथाकार के जीवन के इस अनजाने पर 'बोलते' पहलू के लिये पाठकों की उत्सुकता अस्वाभाविक भी नहीं कही जायगी।

भैया कान्त ने अपनी इस रहस्यमयी 'समर्पिता' को आरंभ से ही कुछ इस अन्दाज़ से अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किया था कि उनके निकटस्थ व्यक्तियों को भी रहस्य-भेदन के निमित्त व्याकुल होना पड़ा; पर किसी के हाथ व्याकुल-औत्सुक्य के अतिरिक्त और कुछ आया ही नहीं।

'तुरन' सदैव रहस्य बनी रही।

उत्सुकता की लहरें, रहस्य के बाँध से सिर धुनती रहीं। और हुआ यह कि दुनिया भर की, बेसिर-पैर की—कल्पनायें, अनुमानी-मन्तव्य प्रचारित होते रहे।

'न कुछ हम हँस के सीखे हैं, न कुछ हम रो के सीखे हैं
जो कुछ थोड़ा सा सीखे हैं, तुम्हारे हो के सीखे हैं

वाला शेर, तुरन और कुशवाहा कान्त को अपनी तेगरीब 'रंगों' से रँगने में सहायक भी कम नहीं हुआ। भैया कान्त ने 'जलन', 'रक्त-मन्दिर' (प्रथम संस्करण) और 'विद्रोही सुभाष' (प्रथम संस्करण) में, तुरन प्रकरण पर वास्तविकता की 'पालिश' करके उसे 'सजीव' बना दिया था। और तब तो रहस्य भेदन की बेकली का पूछना ही क्या ?

प्रस्तुत पुस्तक के रचनाकाल में, अनुज सरीखा मेरा प्रिय शिष्य मुकुन्द, अपने को रोक नहीं पाया तो एक दिन भीष्मप्रतिज्ञा वाले मूड में मुझसे उलझ ही पड़ा। उसके प्रश्नों की 'मार' ने मुझे इस रहस्य पर कुछ बोलने को विवश कर ही दिया।

और सच कहूँ तो, भैया के इतने निकट रहने के बाद, सब कुछ जानते-समझते हुए भी मैं कभी कभी असमंजस में पड़ जाता हूँ। जो भी हो, आशा है, मुकुन्द का यह 'आग्रह' तुरन रहस्य में खुभ-चुभ करते भैया कान्त के अगणित पाठकों को ईषत् तुष्टि तो देगा ही।

● ●

"यह तुरन कौन थी भैया !"

सुनकर मुझे हँसी आ गयी। अनायास ही मुख से निकल गया – "अगर भैया के उपन्यासों की अनेकानेक नायिकाओं की तरह उसे भी समझ लो तो कोई हर्ज है ?"

"मान कैसे लूँगा ! सभी जानते हैं, लेखक अपनी पुस्तकों को ऐसे ही किसी को नहीं समर्पित किया करता। आप कान्त जी के इतना निकट रहे हैं, सब कुछ जानते होंगे। अगर आपकी इस संस्मरण-पुस्तक में, यह रहस्य-भेदन नहीं होगा तो पाठकों को गहरी निराशा होगी। सचमुच इस सम्बन्ध में कुछ लिखने का इरादा नहीं है क्या आपका ?"

मैं सोच में पड़ गया। मुकुन्द की यह शंका केवल उसकी ही नहीं, परन्तु पुस्तक के अधिकांश पाठकों की सम्मिलित शंका है—स्पष्ट है। पहले, तुरन प्रकरण पर कुछ लिखने का निश्चय तो अवश्य किया था, परन्तु बाद में, विचार कुछ जमा नहीं।

"आपको मुझे बतलाना ही होगा...." उसके स्वर में निश्चय की ध्वनि स्पष्ट थी।

मैं विचारमग्न हो गया। थोड़ी देर के बाद—"देखो, मुकुन्द, सच पूछो तो इस सम्बन्ध में मुझे भी कुछ खास मालूम नहीं है। इतना भर जान लो कि 'तुरन' का अस्तित्व, भैया के मन में मात्र कल्पना के आधार पर ही नहीं टिका था...."

"अच्छा!" सुनकर वह आश्वस्त-सा हुआ—"तुरन उनकी कोई रिश्तेदार थी क्या?"

"उनका समर्पण देखा ही है तुमने। क्या थी स्वयं समझ लो!"

"वह क्या अब भी है?"

मैं सुनकर चौंके बिना न रहा। वह नकीली इशकाम सा दिखा रहा था। मन में हुआ, झुककर जाऊँ और डाँटकर उसे चुप कर दूँ मगर तभी ख्याल हो आया, भैया के सम्बन्ध में प्रस्तुत संस्मरण में अपने अन्तस् की स्मृतियों को तार-तार करके प्रस्तुत किया है मैंने। अपने प्रिय लेखक के जीवन के सम्बन्ध में जानने के लिये उन शत-शत पाठकों के हृदय में जो उत्सुकता, जो विश्वास मेरे प्रति हो आया है, उसे ठेस तो नहीं लगेगी?

अपने को अधिक देर उलझन में रखना संभव न रहा तो तुरन के सम्बन्ध में, जो भी मुझे मालूम हो पाया था, मुकुन्द से (और भैया के उत्सुक पाठकों से भी) कह गया।

'तुरन' और भैया 'कान्त' का वास्तविक सम्बन्ध क्या था?—इसे विश्वास के साथ संभवतः आज भी कोई नहीं कह सकता। तुरन

के प्रति उनके हृदय में अपार मोह रहा – आजीवन। बहुत संभव है, मोह का यह तूफान बचपन से ही उठा हो। एक बार भैया को कहते सुन पड़ा था, याद नहीं आता किससे ? —'तरुण को मेरी कल्पनाओं की दुनिया में ही अगर चाहोगे तो देख पाओगे....जाने कब एक लहर उमड़ी थी और मैं उसमें बह गया था। यह तो मेरी कलम की करामात है, जो कल्पना को भी इतनी साकार, इतनी सजीव कर देती है कि सभी उसे लेकर भिड़े जा रहे हैं !'

मुकुन्द ने मुझे टोका था—"भैया, आप मुझे बहकाना चाहते हैं। स्पष्ट बतलाइए न, वह कोई थी भी या...." वह झुँझला सा गया था।

"थी।"

"आपकी अपनी समझ में, कान्तजी से उसका कभी, किसी प्रकार सम्बन्ध रहा ?"

"नहीं। उनके बहुत निकट रहने के बाद भी मुझे ऐसा अनुभव नहीं हो पाया।"

"'तरुण' आदि में ही भैया ने कहानियाँ ?"

"विश्वास करो, यह सब उनके कथा शिल्प के चमत्कार के अतिरिक्त और कुछ नहीं। भैया के पाठकों में ही नहीं, उनके नाते रिश्ते तक में तरुण को लेकर जो कुछ भी प्रचारित हुआ है, औत्सुक्य और रहस्य-मयता के कारण ही। लोगों के इस प्रश्न पर मैंने सदा उन्हें आनन्द का अनुभव करते पाया है। मेरे अपने विचार से, उनके अवसान के उपरान्त अगर कोई कुछ 'उद्घाटन' करना चाहेगा तो वह सत्य का प्रकाश न होगा; होगा भ्रम और अनुमानों के अँधेरे में टटोलने के समान ही....और यह उनकी आत्मा के प्रति अन्याय नहीं तो और क्या है ? तुम मुझे, अपनी और पाठकों की तुष्टि के लिये भैया की आत्मा के समक्ष अपराधी प्रमाणित करना चाहोगे क्या मुकुन्द !"

परिशिष्ट

कान्त—परिवार

स्व० कुशवाहा कान्त अपने पीछे माँ, अनुज (उनके भी बच्चे) बहन, पत्नी, तीन पुत्र और दो पुत्रियों का लम्बा-चौड़ा परिवार छोड़ गये हैं।

यहाँ मिलन के साथ विदा के गीत सुनाए जाते हैं
आते हैं आनेवाले पर जानेवाले जाते हैं

चार कन्धों और अनेक अश्रुनिगलित हृदयों पर स्व० कान्ता की अर्थी।

मीठी-मीठी लय में गाओ धीरे-धीरे लोरियाँ
छिपा-छिपी पलकों पर झाँकी आ रही
आँखों में निंदिया छा रही

चिरनिद्रा में निमग्न स्व० कान्त

स्व० कान्त (पीछे की पंक्ति में बायें से प्रथम) जब भारतीय सेना के रायल एयर फोर्स में 'एयर क्रैफ्ट्स, फर्स्टक्लास' के पद पर थे, तब के उनके सहकर्मियों का एक ग्रुप ।

सुप्रसिद्ध चरित्र-अभिनेता जीवन सन् ५१ में जब काशी आये थे तो स्व० कान्त से उन्होंने भेंट की थी। चित्र में स्व० कान्त प्यारेलाल 'आवारा', जयन्त कुशवाहा और जीवन (गोद में अपने साले को लिये) के साथ दीख रहे हैं।

*

स्व० कान्त चिन्तन की मुद्रा में

स्व० कान्त की पुत्री प्रेम, जिसका ब्याह '५३ में हुआ।

स्व० कान्त का ज्येष्ठ पुत्र त्रिलोक कुमार

स्व० कान्त अपने स्व० पिता बाबू केदारनाथ के साथ किशोर वय में।

स्व० कान्त की माँ

चिन्तामग्न स्व० कान्त

गंभीरता की मूर्ति स्व० कान्त
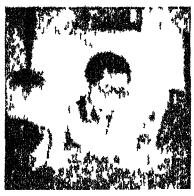
स्व० कान्त लिखने की मेज़ पर

नारायणी कुशवाहा   स्व० कान्त श्रीमती तारादेवी

जयन्त कुशवाहा